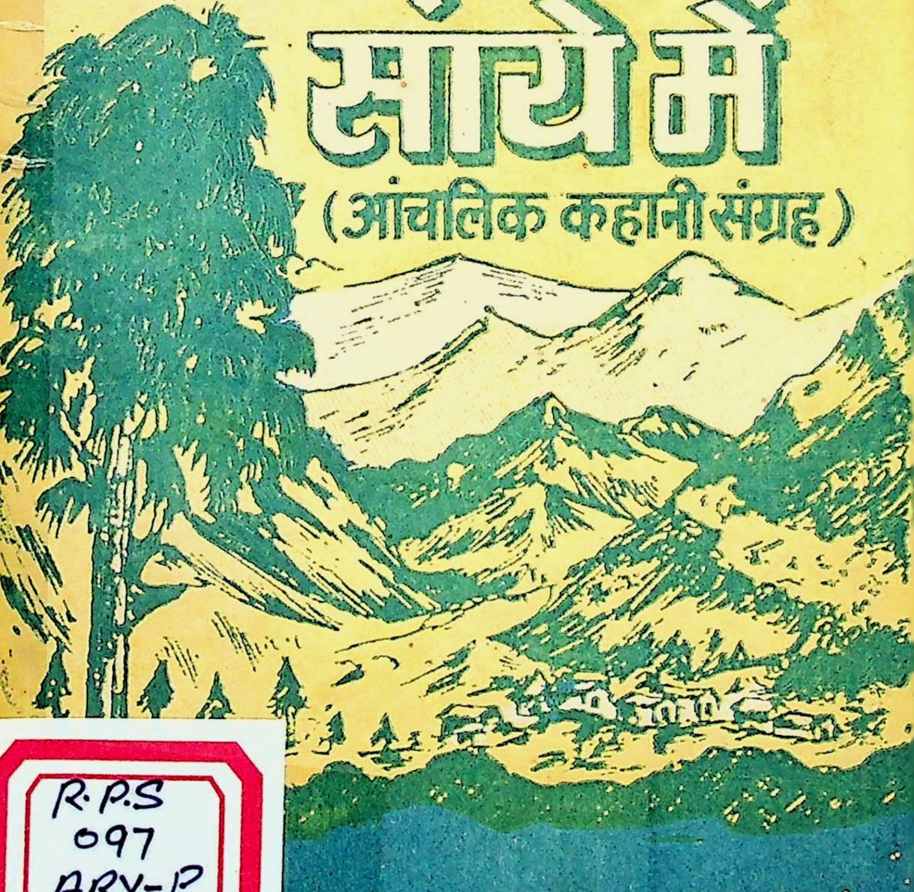
पहाड़ों के साये में

(आंचलिक कहानी संग्रह)



डॉ. श्रीविलास डबराल 'विलास'

पहाड़ों के साये में

(आंचलिक कहानी-संग्रह)

डॉ० श्रीविलास डबराल 'विलास'

वाणी विलास प्रकाशन

धामपुर उ० प्र०

मूल्य :	५.००
प्रकाशक	वाणी विलास प्रकाशन पहाड़ी दरवाजा, धामपुर (उ०प्र०)
कॉपीराइट	डा० श्रीविलास डबराल 'विलास'
संस्करण	प्रथम १९७७
मुद्रक	बन्सल प्रिंटिंग प्रेस, धामपुर

अपनी बात

वर्षों से मेरे बहुविध लेखन की उपेक्षित पड़ी जर्जरकलेवरा पांडुलिपियों की दुर्दशा ने जब मुझे बेचैन कर दिया तो मुझे अपना यह प्रकाशन खोलना पड़ा। इसके अतिरिक्त मेरे सामने कोई विकल्प नहीं था। प्रकाशक ? वे बड़ा काम नहीं, बड़ा नाम देखते हैं, क्योंकि इससे ही उनके बड़े दाम बनते हैं। उनका मुख जोहते–जोहते ग्लानि हुई कि आखिर ऐसी भी क्या गुलामी ! वे छाप भी दें तो लेखक ने तो अभाव में ही रहना है। तो क्यों न मैं स्वतन्त्रता के अभाव स्वीकारूं ? इससे यह सन्तोष तो रहेगा कि मैं अपनी आर्थिक अकिंचनता में भी स्वतन्त्र हूँ और किसी के शोषण का शिकार नहीं बना। लेखक की सबसे बड़ी पूँजी उसका स्वाभिमान है, जिसका स्वरूप उसके सिद्धान्तों से गठित होता है। उसके बिना उसका लेखन झूठा और निःसत्व हो जाता है। इसी विचारणा से अपना प्रकाशन खोल बैठा, जिसकी यह पहली किरण साहित्य—देवता के मन्दिर की देहली पर झुकी प्रार्थना कर रही है कि पूर्वा के आँगन पर कोई बदली न छाये और आगामी किरणों को भी अर्चना का अवसर प्राप्त हो।

इस संग्रह में सन् १९५२—६४ के बीच लिखी गयी मेरी कहानियों में से नौ कहानियाँ संगृहीत हैं। तब से लेकर आज तक समय की धूल में ये इतनी मलिनमुखी हो गयीं थी कि इनकी पांडुलिपि फिर से तैयार करनी पड़ी। इस प्रक्रिया से गुजरती हुई ये अपना रूप संवारती गयीं और उसमें से इनका आभ्यन्तर सौन्दर्य नयी भाव--भंगिमाओं के साथ छिटकता गया। अब इनके कथ्य और शिल्प को लेकर मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि ये पुरानी होकर भी नयी हैं। वह अलग बात है कि मेरे साथ मेरी बात का समर्थन करने के लिए साहित्यिक नारेबाजों का हुजूम न

हो। मेरी साधना तो हमेशा भवभूति के इस कथन से प्राणवन्त रही कि काल निरवधि है और पृथ्वी विपुल। कभी न कभी, कोई तो मेरा समान-धर्मा पैदा होगा।

ये कहानियाँ मेरी जन्म भूमि गढ़वाल अंचल से सम्बन्धित हैं। यद्यपि मैं किशोरावस्था के बाद उच्च शिक्षा के लिए और फिर जीविका को लेकर अपनी जन्मभूमि से विच्छिन्न रहने के लिए विवश रहा, पर मेरे मन ने कभी भी इस विवशता को स्वीकार नहीं किया। वह अपने एकान्त क्षणों में सदैव मेरी जन्म भूमि की ओर कल्पना की उड़ानें भरता रहा है। दूर रहते हुए भी मैंने अपने मनोलोक में वहाँ के मेघों से ऊपर धूप में दमकते हिम--शिखरों, फूलों--भरी घाटियों, हरे–भरे ढ़लानों और दूधिया झरनों को देखा है; वहाँ की चट्टानों से टकराती वेगवती निम्नगा नदियों का 'स्वींस्याट', चीड़–वनों में आँचल फहराती हवा की सरसराहट और आकाश के साथ पर्वत–शिखरों का गोपन सम्भाषण सुना है, वहाँ के रंग--बिरंगे बहुरूपी फूलों और काफल, हिसरे, तिमलू, बेडू आदि फलों की सुगन्धियाँ पायी हैं। और इस प्राकृतिक सौन्दर्य की वायवी उड़ान से नीचे उतरकर मैंने अभाव--अभियोग के शिकंजे में जकड़ी वहाँ की मानवता की छटपटाहट भी देखी है, उसकी दम--तोड़ती सिसकियाँ भी सुनी हैं और उसकी आशा--आकांक्षाओं की कुचली कलियों की अन्तिम क्षीण महक भी झेली है। ये कहानियाँ मेरी जन्म-भूमि की ऐसी ही कंकाल बनी मानवता की कहानियाँ हैं। वहाँ के सुरम्य प्राकृतिक परिवेश में अनेक दर्द–भरी जीवन--स्थितियों के बीच से चलता हुआ मेरा मन बराबर आँसू बहाता रहा है। भावुकता कह लीजिये, पर मैं इस भावुकता को लेकर ही वह सब कुछ देख सका हूँ, वह सब कुछ भोग सका हूँ, जो इन कहानियों में जीवन्त होकर आया है। यही कारण है कि इन कहानियों में से अधिकांश की मूल संवेदना दर्द ही है।

इनके शिल्प--विधान में आंचलिक शब्दों का प्रयोग वहीं हुआ है जहाँ उनके ठीक पर्याय हिन्दी में नहीं मिले। जैसे—भिट--भ्याल

(दुर्गम पर्वत--स्थल), सिवा (एक विशिष्ट चरण--स्पर्श), समनैनसाह (सवर्णों के लिए हरिजनों का एक अभिवादन--प्रकार), गदन--गवेरे (पहाड़ी नाले), गुठ्यार (गोशाला) आदि शब्द। कहानियों में स्थानीय रंग की सृष्टि के लिए ही मैंने इन शब्दों का प्रयोग किया है। साथ ही यह भी ध्यान रखा है कि जो पाठक इन शब्दों से अपरिचित हैं, उन्हें, इनके प्रयोग से, कहानी के प्रवाह में किसी प्रकार की रुकावट का अनुभव न हो और जो इनसे परिचित हैं वे इनका सहज आनन्द ले सकें। अन्यथा इन कहानियों की आंचलिकता पूरी तरह हिन्दी कहानी--कला के ही कलेवर में है।

मुझे पूरा विश्वास है कि ये कहानियाँ अपनी मानवीय संवेदना से सर्वत्र सराही जायेंगी।

धामपुर
वसन्त पंचमी, १९७७

'विलास'

क्रम

१ | खंडहर का दर्द

गाँव के मुरली दादा ने एक दिन मुझ से पूछा था—"हुक्का पीते हो?"

कैसे कह सकता था कि हाँ पीता हूं। इसलिए बात टालने की गरज से कहा—"आपके लिए भर दूं क्या, दादा?"

दादा ताड़ गये थे कि मैं संकोचवश उनके प्रश्न से कतरा रहा हूँ। बोले—"अरे, झेंपता क्यों है! पीता है तो छाती ठोक कर बोल कि हाँ पीता हूँ। पीने में बुराई समझता है तो पीता क्यों है?"

मुझे फिर भी चुप देखकर दादा ने घुड़की दी—"अरे, कहता क्यों नहीं कि हां पीता हूँ!"

"जबर्दस्ती बोल दूं दादा, कि हाँ पीता हूँ।" मैंने झेंपती हँसी के साथ कहा।

"अरे, अगर न पीता होता तो मेरे पूछने पर यों बगलें न झांकता। सवाल सुनते ही कह देता कि नहीं दादा, नहीं पीता। तूने मेरे सवाल को टाला ही इसलिए कि तू पीता है और मेरे सामने कहने में संकोच कर रहा है।"

दादा के इस सही मनोविज्ञान से विवश होकर मैंने कहा—"आखिर आप क्यों चाहते हैं दादा, कि मैं बड़ों के सामने तम्बाकू न पीने की मर्यादा तोड़ूं?"

इसके उत्तर में दादा ने मुझे पानी-पानी कर दिया था—"अरे, जब विद्यार्थी होते हुए भी तू तम्बाकू न पीने की मर्यादा नहीं रख सका, तो मेरे सामने मर्यादा की दुहाई का कोई मतलब नहीं रह जाता।"

आहत और लज्जित होकर भी, बजाय इसके कि मैं उसी समय आगे कभी तम्बाखू न पीने का संकल्प लेता, उस दिन से दादा के साथ हुक्के पर बैठने लगा था।

फिर तो दादा की तिबारी में पहुँचते ही सबसे पहले हुक्का ही गरम करता था। उनके खटले के पास पहुँच कर हुक्के की नई उनकी तरफ घुमाता तो वे मुझे कहते—"पिओ।"
"नहीं दादा, पहले आप!"

मैं उन्हीं के पास खटले पर एक ओर बैठ जाता और दादा लोहे की मोटी तवी वाले तम्बाकू को बिना खाँसे खींचने लगते थे। उनकी सफेद मूछें इस अखंड तम्बाकू - सेवन से पीली पड़ गयी थीं। मुँह के पास हाथ से नई पकड़ने के कारण उनकी हथेली में तर्जनी और अँगूठे के बीच का भाग भी गाढ़ा पीला पड़ गया था। भौंहों के सफेद बाल उन की पानीदार आंखों पर झुके हुए जैसे उनसे पूछते रहते थे कि अस्सी वर्ष की इस उम्र में भी उनकी इस चमक का क्या रहस्य? उनका ढांचा ढीला नहीं पड़ पाया था। उसमें एक कसावट थी. उम्र के लिए एक चुनौती थी।

जहां तक मैं समझता हूं, दादा की जिन्दादिली ही इसका एक कारण थी। यही वह बात थी कि मैं उनके साथ आनन्द का अनुभव करता था और यही वह कारण था कि गांव के दूसरे बुड्ढे उनके पास कभी नहीं फटकते थे। उन्हें दादा का मजाकिया स्वभाव और टोका-टोकी अच्छी नहीं लगती थी। दादा ही कहां चाहते थे कि कोई बूड्ढा उनके पास आये। उन्हें तो 'बुड्ढा' शब्द से ही चिढ़ थी। एक दिन भूल से मैं उनके बुढ़ापे की चर्चा चला बैठा। बस, दादा ने वह लेक्चर पिलाया था कि आगे के लिए कान पकड़ दिये थे। उस दिन भी मैंने कान पकड़े थे कि दादा! अब कभी आपको बूढ़ा नहीं कहूंगा। इस पर भी उन्होंने डाँटा था—"बकवास बन्द कर। 'बूढ़ा' कह कर कहता है कि बूढ़ा नहीं कहूंगा! अरे, बूढ़ा वह नहीं, जो तन से बूढ़ा है। बूढ़ा वह जो मन से बूढ़ा हो। जब तक मुझ में मस्ती है और जीने की उमंग है तब

तक मैं जवान हूं ।"

वे अकसर कहा करते थे—"जिस दिन मेरी मौत आयेगी, घड़ी भर मेरे छज्जे पर ठिठक कर वह भी सोचेगी कि मुरली के कमरे में जाऊँ या न जाऊँ ! कहीं ऐसा न हो कि वह मुझे ही मार बैठे ।"

खैर, मौत तो किसकी रुकी, पर मुरली दादा जब तक जिये, सही अर्थों में जिये । विषम से विषम परिस्थितियों में भी वे अपराजित रहे । उनकी पीली पड़ी मूछों के नीचे उनकी मुस्कान कभी पीली नहीं पड़ी ।

एक दिन गांव की वंशावली पर बात चल पड़ी । गांव का पूर्व पुरुष कौन था ? कहाँ से आया था ? उसके कितने पुत्र हुए और आज गाँव के ये विभिन्न परिवार किस-किस से सम्बन्धित हैं ? दादा जब विस्तार पूर्वक सारे गाँव का इतिहास समझा बैठे तो पता नहीं कैसे, किस मनोवैज्ञानिक सन्दर्भ को लेकर मेरा ध्यान उस खंडहर की ओर चला गया था जो हमारे गाँव से पन्द्रह-बीस खेत नीचे एक अन्धेरे गधेरे के किनारे आज भी खड़ा है । मैं पूछ बैठा—"दादा ! क्या अन्धेरे गधेरे के उस खंडहर में भी हमारा कोई पूर्व पुरुष रहता था ? क्या सूझी उसे गाँव से दूर उस सीलनदार जगह में, जहां धूप भी नहीं पहुंच पाती, मकान बनाने की ?"

मैंने दादा के चेहरे पर अचानक एक गहरा अवसाद घिरा महसूस किया । वे हुक्के की नई थामे पता नहीं किस भावना में बह रहे थे । मैंने दादा को उस दिन पहली बार उदास देखा तो कहा—"क्या बात है, दादा ? आप तो हंसते-खेलते रहने को ही जीवन मानते हैं, फिर यह उदासी क्यों ?"

यह सुन कर दादा को जैसे झटका लगा हो, बोले—"हंसने खेलने का मतलब पत्थर हो जाना नहीं, बेटा ! हँसने-खेलने का मतलब चिन्ता-मुक्ति है, चिन्तन-मुक्ति या भाव-मुक्ति नहीं । भावना शून्य व्यक्ति क्या खाक हंसेगा-खेलेगा ।"

मैंने दादा को और तेज करने के लिए कहा—" ऐसी कौनसी

भावना, कौन-सा चिन्तन जुड़ा है उस खंडहर से कि आपकी सदाबहार मुस्कान पर आज यह उदासी की बदली घिरी देख रहा हूँ ?"

"जब सुनोगे तब समझोगे, बेटे, उस खंडहर का दर्द !" दादा फिर क्षण भर खोये से रहे—"हाय ! खंडहर की चर्चा चला कर तूने कैसा दर्द जगा दिया !"

दादा सचमुच बहुत भावुक हो गये थे। मुझे ऐसा लगा कि कहीं रो न पड़ें। इसलिए झट से बोला—रहने दो, दादा, मत सुनाओ। आपको दुख हो रहा है।"

"अब तो सुनाये बिना चैन नहीं मिलेगा।" दादा ने कहा, "कह कर ही अब दिल हलका हो सकेगा।"

और दादा ने खंडहर का दर्द सुनाना शुरू किया—

"उस खंडहर में हम ब्राह्मणों का नहीं, दासों का एक पूर्वज रहता था—गरीबदास। नम्र ऐसा कि मुझ जैसे छोटी उम्र के ब्राह्मण-पुत्रों को भी 'समनै शाह' कह कर नमस्ते करता था। ब्राह्मण ठाकुरों के सामने आमतौर से झुकी रहने वाली उसकी गर्दन अगर कभी आत्म - विश्वास से तनती थी तो केवल उस समय, जब वह ब्याह-बरात के मौकों पर कन्या या वर - पक्ष के दासों के मुकाबले मे ढोल घुराता था। उस समय उसका वह ओजस्वी रूप देखते ही बनता था। ढोल पर लाँकुड़ की चोट ऐसी पड़ती थी कि पहाड़ भी थरथरा उठते थे। बीच-बीच में ढोल पर उंगली के घिस्से से उत्पन्न 'घुर्र—घूँ, घुर्र—घूँ' की आवाज ऐसी लगती थी जैसे गुफा के अन्दर से बाघ की गुर्राहट गूंजती निकल रही हो। उसके मुकाबले पर खड़ा दास फीका पड़ जाता था और ढोल पर उसकी लाँकुड़ ताल-लय भूल कर लड़खड़ाने लगती थी। तब बड़े-बूढ़े कहा करते थे कि अरें, गरीबदास के मुकाबले पर कोई क्या ढोल बजायेगा ! पूरे गढ़वाल में उसके समान 'ढोल-सागर' का जानकार ही कौन है ? अगर उसे कहें तो पत्थरों के मजबूत चिने मकान भी बिना सब्बल-कूटी के गिरा सकता है—मकान से दस गज दूर खड़े रह कर ही। ऐसे—ऐसे ताल जानता

है वह ढ़ोल सागर के ।........"

"दादा ! उसके साथ रौंटी कौन बजाता था ?" मैं बीच में ही पूछ बैठा था ।

"उसका कोई खास जोड़ीदार नहीं था ।" दादा जैसे सुदूर अतीत में देखते हुए बोले, "शादी-व्याह या तीज-त्योहार के मौकों पर वह अपने ढ़ोल के साथ रौंटी बजाने के लिये इधर-उधर गांवों से किसी भी दास को पकड़ लाता था । बल्कि यह कहना चाहिए कि उसका जोड़ीदार बनने के लिये कोई भी दास तैयार हो जाता था; क्योंकि गरीबदास के साथ उसे भी अच्छा इनाम-इकरार मिल जाता था । यों गरीबदास अपने जोड़ीदार की सुख-सुविधाओं का पूरा ख्याल रखता और अपनी तरफ से उसे पूरी इज्जत देता और दिलाता था, पर रौंटी बजाते समय यदि जोड़ी-दार से जरा भी कहीं चूक हो जाती थी तो सबके सामने ही लांकुड़ से उसकी उगलियाँ चटखा देता था । जोड़ीदार भी उसकी इस आदत से परिचित थे, इस लिए रौंटी बजाते समय पूरी सावधानी रखते थे । तो ऐसा दास था गरीबदास । गांव वालों को उस पर बड़ा गर्व था ।

"अपने बड़े-बूढ़ों से मुझे पता चला था कि जब गरीबदास अपनी पत्नी के साथ इस गाँव में आश्रम की खोज में आया था उस समय गांव का अपना कोई निश्चित दास नहीं था । मांगलिक कार्यों के समय दूसरे गाँवों से दास बुलाने पड़ते थे । कई बार, जब चारों ओर व्याह–बरात के मुहूर्त रहते थे तो दास पाने में बड़ी कठिनाई आ जाती थी । तब काफी दूर-दूर के गांवों में भटकना पड़ता था और अच्छा लालच देने पर पर ही दास तैयार होते थे । इसलिए जब गरीबदास ने गांव में बसने की इच्छा जाहिर की तो गांव वालों को बड़ी खुशी हुई थी । और पचायत ने उस अन्धेरे गधेरे के पास श्रोप के कारण बंजर पड़े खेत के दो टुकड़े उसे देकर मकान चिनने की इजाजत दे दी थी ।

"गाँव में बस जाने के काफी समय बाद उसके दो बच्चे हुए । मुझे याद है, बड़े का नाम चमना था और छोटे का केवल । गरीबदास

खाली समय में दर्जी का काम करता था। एक बार मैं अपनी टोपी सिलाने उसके पास गया था तो वह चौक में बैठा अपने दोनों बच्चों को ढ़ोल-रौंटी बजाना सिखा रहा था। तीन वर्ष के नन्हें केवल के सामने रौंटी रखी थी और वह अपने नन्हें-नन्हें हाथों में यों ही पकड़ी गई लाँकुड़ों से तणन-तणन रौंटी पीटे जा रहा था। पाँच वर्ष के चमना को गरीबदास उसका हाथ पकड़ कर ढ़ोल पर लाँकुड़ मारने का ढंग सिखा रहा था। मुझे आया देख कर गरीबदास ने 'समनैनशाह' कहा तो मैं अपने छुटपन और उसकी प्रौढ़ावस्था के अहसास से झेंप गया था।

"तभी उसकी औरत—बड़ी गोरी-नारी, बड़ी सुन्दर, जैसी डूमणें अक्सर नहीं होती, भीतर से बाँस के हुक्के पर फूँक से चिलम सुलगाती हुई निकली। गरीबदास वहीं छज्जे के नीचे दीवाल से टिक कर हुक्का पीने लगा। मैं चौक से ऊपर के कमरे में पहुंचाने वाली सीढ़ियों के एक किनारे बैठा था। चमना और केवल ढ़ोल-रौंटी पर मगन थे और यों ही ढम-ढम, तणन-तणन किये जा रहे थे। हुक्के पर दम मार कर गरीबदास मुस्कराती आंखों से अपने बच्चों को क्षण भर देखता रहा और फिर मुझसे बोला—'ठाकुर, मेरा तो कोई पक्का जोड़ीदार नहीं रहा। जैसा भी सधा-बेसधा मिल जाता है, काम निकाल ही लेता हूं। पर मुझे अपनी ढ़ोल-विद्या का पूरा संतोष कभी नहीं मिल पाया।' फिर अपने बच्चों की ओर देखते हुए बोला—'भगवान की किरपा से यह जोड़ी तैयार हो रही है। ऐसा बजाना सिखाऊंगा कि पट्टी में क्या, सारे गढ़वाल में चमकेंगे।'

"उसकी औरत गरीबदास की बात सुनती हुई वहीं खड़ी थी। बच्चों के उज्ज्वल भविष्य की बात सुनकर उसका गोरा चेहरा खुशी से दमक उठा था। और वह ममता भरी आंखों से बच्चों को देखने लगी थी।

"किन्तु, साल-छह महीने ही वे ममता भरी आँखें बच्चों को देख सकीं और फिर एक दिन जामुन के पेड़ की एक ऊंची शाखा से जामुन तोड़ते हुए रपटी और गिरते ही उसकी वे आँखें हमेशा के लिए मुँद गयीं।

"औरत के मर जाने पर गरीबदास के सामने कई सवाल खड़े हो गये। बच्चे अब इस अकेली सूनी जगह पर किसके भरोसे रहेंगे ? वह जब बरात लेकर दूसरे गाँव जायेगा तो इन नन्हीं जानों को कौन खाना खिलायेगा और कौन अपनी छाती से लगाकर रात में सुलायेगा ? माँ के गुजर जाने से उसे सुमर-सुमर कर यों ही इनका हाल बेहाल है, वह भी कहीं चला गया तो ये रो-रोकर अधमरे ही हो जायेंगे। पहाड़ पर इधर - उधर चढ़ते-उतरते फिसल गये तो हो गया खेल खतम। ऊपर गाँव में बामण-ठाकुरों को हाथ जोड़ कर कह भी जाये कि ठाकुरो, जरा बच्चों पर भी निगाह रखना और वे उसका मन रखने के लिए कह भी दें कि बेफिकर रहो तब भी, वह जानता है कि कोई ऐसा नहीं जो डोम के बच्चों को इतना नीचे उतर कर देख जाये। फिर बच्चों को देखने का मतलब यह नहीं कि दूर से देख लिया और बस। भूखे हों तो खाना देना, प्यासे हों तो पानी देना, रोते हों तो पुचकारना, गोद में लेकर बहलाना—यह मतलब होता है बच्चों को देखने का। बामण-ठाकुर भला यह कैसे कर सकते हैं ! वह खुद भी नहीं चाहता कि वे एक डुमड़े के लिए अपना धरम बिगाड़ें और उसे पाप का भागी बनाएँ। कोई दयावान ठाकुर दिन के समय आकर बच्चों के सामने टुकड़ा डाल भी गया तो रात को इस अकेले मकान में उसके बिना ये मासूम बच्चे कैसे रहेंगे ? कितना अन्धेरा छा जाता है रात में इस जगह ! दिन का यह अन्धेरा गधेरा रात को डरावना गधेरा भी बन जाता है। खुद उसने कई बार रात के समय वहाँ उस बीच गधेरे में भक् से आग जलती-बुझती देखी है। कई अजीब तरह की डरावनी आवाजें खुद उसने अपने इन कानों से सुनी हैं। वह तो कुछ जन्तर-मन्तर जानता है, इसलिए भूत-परेत आगे नहीं बढ़ पाते। उसके बिना तो बच्चे मारे डर के ही मर जायेंगे।"

अचानक दादा में हुक्के की हुड़क ने जोर मारा था। वे दोस्ताने लहजे में बोले थे—"अरे यार ! जरा तम्बाकू तो भर ला !"

सच कहता हूँ, उस दिन पहली बार दादा का वह रह-रह कर हुक्का पीना मुझे बुरी तरह अखरा था। कैसी भाव-धारा में तन्मय हुआ बहा जा रहा था कि अचानक दादा का हुक्का जैसे सिर से टकरा गया था, मैं मन ही मन तिलमिला उठा था।

चिलम गरम कर हुक्के पर रखते हुए मैंने दादा से पूछा—"गरीबदास की इस मानसिक उलझन का पता आपको कैसे चला ? आप तो तब बच्चे थे। क्या वह आपके पास बताने आया था ?"

दादा ठठाकर हँसे थे—"अरे ! तू भी निपट बुद्धू है। इतना भी नहीं समझता कि गरीबदास की उस समय की मानसिकता को मैंने उसकी जगह खड़े होकर भोगा है। क्या औरत के मरने पर वह कुछ ऐसा ही नहीं सोचता रहा होगा ?"

"ठीक है, दादा !" मैंने स्वीकार किया, "वह जरूर ऐसी ही उलझन भरी मानसिकता में रहा होगा।" फिर दादा को उत्साहित करने के लिए मैंने कहा—"आश्चर्य होता है, दादा, आपकी सूझ-बूझ पर ! मामूली सी घटना को अपनी कल्पना से भावपूर्ण बनाने का आपका ढंग मन मोह लेता है।............हाँ, तो फिर क्या हुआ, दादा ?"

दादा हुक्के पर कश खींचकर चालू हुए—"गरीबदास को अपनी उस उलझन में जब सुलझाव की और कोई राह नहीं मिली तो जिस राह से वह बचना चाहता था घूम-फिर कर उसी पर चल निकलने के लिए विवश होने लगा था। वह नहीं चाहता था कि चालीस-पैंतालीस की उस ढलती उम्र में फिर से औरत करे। किन्तु इसके अलावा बच्चों की देख-भाल के लिए कोई दूसरा उपाय उसके सामने था ही नहीं। और न चाहते हुए भी उसे औरत लाने का निर्णय लेना पड़ा।

"अपने निर्णय को रूप देने के लिये उसने सोचा कि कल सुबह ही वह नदी के उस पार डांड के गांव में जायेगा। वहां अपने जोड़ीदार मिथुनदास से उस बारे में कहेगा। ऐसे मामलों में वह बड़ा तेज है। तीन औरतें उसे एक-एक बार छोड़ गयीं; पर पट्ठे ने कभी परवाह नहीं

की। अब चौथी के साथ रह रहा है और अभी से पांचवीं पर भी निगाहें रखे हुए है। वही उसकी समस्या सुलझा सकता है। यहाँ बच्चों के लिए ऊपर के कमरे में खाना-पानी रख जायेगा और उन्हें कमरे में बन्द कर ताला लगा कर चला जायेगा। मिथुनदास से मिल कर जितनी जल्दी हो सकेगा, लौट आयेगा। शाम के पहले तो हर हालत में लौट ही आयेगा। बच्चों को खुला छोड़ जाना एक दम खतरनाक है। कहीं 'भिट-भ्याल' में गिर-गुरा गए तो उनकी चीख-चिल्लाहट भी यहां से कोई नहीं सुन पायेगा। चमना को समझा जायेगा कि चुपचाप कमरे में पड़े रहना, वह जल्दी ही आ जायेगा। भूख लगे तो यहां खाना रखा है, दोनों खा लेना। प्यास लगे तो यह पानी है, पी लेना। छोटा भुला रोये तो पीटना नहीं, प्यार से चुप करना। पांच वर्ष का चमना इतना तो संभाल ही लेगा। और रोयेंगे भी तो कितना रोयेंगे! हार-थक कर सो जायेंगे। बस एक दिन की मुसीबत है, फिर तो मिथुनदास की मदद से जल्दी ही औरत आ जायेगी। सब ठीक-ठाक चलने लगेगा। और हां, वह औरत इसी शर्त पर लायेगा कि बच्चों को किसी प्रकार का दुख नहीं देगी, मारेगी-पीटेगी नहीं, अपने ही बच्चे समझेगी और जिस दिन इनके साथ जरा भी कपट करेगी उसी दिन अपना रास्ता नापने के लिये तैयार रहेगी।

" दूसरे दिन सुबह-सुबह जब वह बच्चों को कमरे में बन्द कर जाने लगा तो बच्चे भीतर से दरवाजे के पास खड़े होकर रोने-चिल्लाने लगे। जिस चमना को उसने इतना समझाया था वही दरवाजा पीटते हुए कह रहा था—'बाबा! दरवाजा खोल दो, हमें डर लग रहा है। हम यहीं चौक में खेलते रहेंगे, कहीं नहीं जायेंगे।' और छोटा बेतहाशा रोये जा रहा था। उसका जी चाहा कि फौरन दरवाजा खोल कर दोनों को गले लगा ले। किन्तु इससे समस्या नहीं सुलझती थी। वह तेजी से उतराई के रास्ते पर उतर चला था।

"जल्दी ही घर लौट आने के इरादे से वह उतराई पर लगभग दौड़ता हुआ उतर रहा था। घाटी में बहने वाली नदी तक की लगभग एक मील की उतराई वह एक ही साँस में उतर गया था।

"अब उसके सामने नदी पार की खड़ी चढ़ाई थी। अब तक धूप में भी तेजी आ गई थी। उसने नदी से पानी पिया, क्योंकि आगे की पूरी चढ़ाई में कहीं पानी नहीं था। नदी कल-कल, छल-छल बह रही थी। उसमें आर-पार जाने के लिये लोगों ने कदम-कदम पर बड़े-बड़े पत्थर रख दिये थे। गरीबदास ने कौन से जूते पहन रखे थे कि पत्थरों पर डगमगाते कदम रखता हुआ नदी पार करता! वह नदी का ठंडा पानी उछालता हुआ आगे बढ़ा। उतराई के कंकरों की चुभन से एक जलन-सी उसके तलुओं में फैली थी, ठंडे पानी से उसे बड़ा आराम मिला।

"वह जब, दोपहर से कुछ पहले, मिथुनदास के चौक में पहुंचा तो मिथुनदास छज्जे पर बैठा हुक्का गुड़गुड़ा रहा था। गरीबदास को आता देख कर वह खड़ा हो गया–'आओ दादा, आओ! बड़े दिनों में दरशन हुए।'

"मिथुनदास कई बार गरीबदास के ढोल के साथ रौंटी का जोड़ीदार रह चुका था। इसके अलावा ढोल सागर का माना हुआ जानकार होने के कारण भी दासों में उसकी बड़ी इज्जत थी।

"मिथुनदास फौरन अन्दर से कथरी ले आया। छज्जे पर बैठ गये गरीबदास ने उठते हुए कहा–'रहने दो, भाई।' मिथुनदास ने कथरी बिछाई तो उस पर बैठते हुये गरीबदास ने कहा–'अच्छा कथरी इस लिए बिछाई कि कहीं मेरे मैले कपड़ों से तुम्हारा यह साफा छज्जा काला न पड़ जाये!'

"इस पर दोनों हंस पड़े थे।

"मिथुनदास ने उसे हुक्का थमाते हुए पूछा– 'हे दा! इधर तो

दूर तक कहीं व्याह-बरात का मुहूरत भी नहीं, फिर कैसे आये ?'

'बिना मुहूरत की शादी के लिए।' गरीबदास ने गम्भीरता से कहा।

'क्या मतलब ?' मिथुनदास ने विस्मय के साथ कहा, 'कहां हो रही है बिना मुहूरत की शादी ?'

'मुहूरत देख कर व्याह होता है बामण - ठाकुरों का।' गरीबदास ने कहा—'तू चार औरतें लाया है, पर कब निकलवाया तूने महूरत ?" फिर हसते हुए उसकी बांह दबाता हुआ बोला—'अरे भाई, जिनके भाग्य बने रहते हैं उन्हें ही उसके बिगड़ जाने का डर रहता है। इस लिए वे हर कदम पर मुहूरत देखा करते हैं। हमारा-तुम्हारा क्या बना है जो बिगड़ जायेगा। मुहूरत देख कर भी चलें तब भी हमारे भाग में ठोकरें ही लिखी हैं।"

'दादा !' मिथुनदास ने मुस्कराते हुए कहा, 'लगता है कि खुद के व्याह के लिए निकले हो !'

'हाँ, मिथुनदास ! ठीक समझे।'

उसके स्वर में हल्की-सी झेंप महसूस कर मिथुनदास बोला—'तो इसमें बुरा क्या है, दा ! मैंने कई बार सोचा कि तुम्हारे गाँव आकर तुम्हें व्याह करने के लिए कहूँ। मैं जानता हूँ कि भौजी के उठ जाने से तुम किस संकट में आ गये हो।"

तभी मिथुनदास की औरत सोढ़ियों पर थाली में दो गिलास चाय लिए दिखायी दी। गलितयौवन मिथुनदास की सुन्दर और स्वस्थ युवती पत्नी को देख कर गरीबदास अपने लिए इस तरह के बेमेल सम्बन्ध को पसन्द नहीं कर सका था।

मिथुनदास ने एक गिलास गरीबदास को पकड़ा कर अपना गरम गिलास उठाया और 'सुड़' की आवाज के साथ चाय खींच कर बोला— 'तो क्या दादा, है कोई औरत निगाह में ?'

'अब निगाह के लिए नहीं, निबाह के लिए औरत चाहिए, मिथुन

दास !' गरीबदास ने कहा । फिर ठहर कर बोला—'निगाह में होती तो तुम्हारे पास क्यों आता ? उसी को न तैयार करता ?'

'हाँ-हाँ' मिथुनदास ने छाती ठोकते हुए कहा, "तुम कोई फिकर मत करो, दादा ! एक नहीं, दस औरतें खड़ी कर सकता हूँ तुम्हारे लिए ।'

गरीबदास हँसने लगा— 'दस की छोड़ो, मिथुनदास, इस उम्र में तो एक भी भारी ही पड़ेगी । बच्चों की मजबूरी से तैयार हुआ हूँ । सच पूछो तो मुझे अपने लिए औरत नहीं, बच्चों के लिए माँ चाहिए ।'

मिथुनदास उसकी बात सुनकर भी जैसे समझा न हो, बोला— 'एक लड़की है मेरी नजर में, पर उसका बाप जरा टेढ़ा है । लेकिन, मेरा विश्वास है कि तुम्हारे लिए वह तैयार हो जायेगा ।'

'मिथुनदास !' गरीबदास ने उसके कन्धे पर हाथ रखते हुए कहा 'मैं लड़की नहीं, औरत चाहता हूँ, मेरी इस उम्र से मेल खाने वाली । कोई जवान लड़की तो दो चार दिन में ही ऊब कर भाग जायेगी, कोई छोड़ी हुई या राँड-फाँड औरत ही अब मुझसे बँधी रह सकती है ।"

'तब तो काम यों चुटकी में हुआ समझो ।' मिथुनदास ने आत्म विश्वास के साथ कहा 'बस दस-पन्दरह दिनों के अन्दर-अन्दर घर में औरत आयी हुई देख लेना । मैं जल्दी ही खुशखबरी लेकर खुद तुम्हारे पास आऊँगा ।'

'हाँ मिथुनदास ! जितनी जल्दी हो सके, परबन्ध कर दो ।' गरीबदास के स्वर में अनुनय था, 'महीने भर बाद गाँव के मंगतराम ठाकुर के बड़े लड़के का ब्याह है । तब तक मैं घर बसा लेना चाहता हूँ ।अब देखो यहाँ आया हूँ तो बच्चों को घर में बन्द करके आया हूँ ।"

× × ×

"दोनों दास कमरे में बैठे खाना खा रहे थे कि जोरों से हवा चलने लगी । गरीबदास की निगाह दरवाजे की तरफ उठ गयी । सामने के पहाड़ पर बादलों की छाया दिखाई दी । वह घबराया-सा बोला— 'लगता है,

बारिश आ रही है।'

उसकी आशंका के समर्थन में बादलों की गड़गड़ाहट सुनाई दी। घाटी में वह गड़गड़ाहट इस तरह गूँजी जैसे पहाड़ की कोई चोटी दरक कर लुढ़की हो।

कुछ देर बाद छज्जे पर हाथ धोते हुए गरीबदास ने चीड़-बाँज के जँगल में हवा को हुंकारते सुना। आकाश की ओर देखा तो काले घने बादलों का डरावना जमघट दिखाई दिया।

भीतर जाकर उसने लोटा एक किनारे रखा ही था कि ताबड़तोड़ वर्षा की आवाज सुनाई दी। उसमें भय की सिहरन घबराहट के रूप में प्रकट हो गयी। वह हड़बड़ा कर बोला—'अब चलता हूँ मिथुनदास, शाम तक घर पहुँचना है।'

'बरखा थम जाये तो चले जाना।' मिथुनदास चिलम भरते हुए बोला, 'गरमियों की बरखा है, ताबड़तोड़ आई है ताबड़तोड़ चली जायेगी।'

दोनों तम्बाकू पीने लगे। मिथुनदास इलाके में अपनी जात की विधवाओं और परित्यक्ताओं का परिचय दिये जा रहा था, पर गरीबदास कुछ भी नहीं सुन रहा था। वह तो दरवाजे से बाहर दिखाई देने वाली उस भयंकर वर्षा के द्वाराकार टुकड़े के पीछे कमरे में वन्द अपने बच्चों की दहशत भरी आँखों को मूसलाधार बरसते देख रहा था। उस हाहाकार करती आँधी में उन दो मासूम दिलों का भय-कम्पित क्रन्दन सुन रहा था। वह एकदम उठा—'बस, अब मुझे जाना ही होगा।' और इसके पहले कि मिथुनदास उसे आश्वस्त करता, वह बाहर की हवा की तरह ही छज्जे से सीढ़ियाँ उतरता हुआ चौक के पार हो गया था।

उतराई में अन्धाधुन्ध भागते हुए वह पानी से फिसलनदार बने पत्थरों पर कई बार रपटा, पर चोट की परवाह किये बिना वह दौड़ता ही जा रहा था। रास्ते में मटमैले पानी को लेकर उछलते हुए कई छोटे

बड़े गदन-गधेरे मिले, किन्तु वह उन्माद में विवेक-शून्य-सा उनमें धँसता हुआ निकला जा रहा था। मिट्टी बह जाने से रास्ते पर निकले तेज-नुकीले पत्थरों से उसके पाँव के तलुवे जगह-जगह कट-फट रहे थे, पर उसकी गति में कोई अन्तर नहीं आया था। सामने से पानी की तेज बौछारें उसकी आँखों को भर-भर देती थीं, पर वह हाथों से आँखों को निथारता हुआ उतराई में फलाँग रहा था। पीछे धकेलती तेज हवा को सीने की टक्कर देता हुआ वह जितना भाग सकता था, भाग रहा था।

नदी के किनारे पहुँचा तो सन्न रह गया। जिस आशंका को ले कर वह रास्ते के विकट अवरोधों से जूझता हुआ आया था, वह सामने फुंकार मार रही थी। नदी की सुबह वाली स्वच्छ–पतली धारा मटमैले पानी से भरी हुई उफन रही थी। और वर्षा थी कि पहाड़ों से उतरती जल-धाराओं को और भी उग्र किये दे रही थी।

उसने सोचा, वर्षा अभी और होगी, नदी अभी और चढ़ेगी और तब उसके लिए नदी पार कर पाना असंभव हो जायेगा। वह नदी में उतर गया। ज्यों–ज्यों आगे बढ़ता गया, पानी गहरा और गहरा होता गया। जब पानी कमर तक आ गया तो वह उसके वेग से मुकाबला करने में अपने को असमर्थ पाकर घबरा गया। लेकिन, अब उस तेज धारा में मुड़ कर लौटना और भी खतरनाक हो गया था। नदी के तल में लुढ़कते पत्थर अलग उसके पाँव उखाड़ रहे थे। फिर भी वह नदी की मध्यधारा से लड़ता बढ़ रहा था। उसने बड़ी ताकत लगाकर पानी के अन्दर एक पैर थोड़ा आगे बढ़ाया। किन्तु दूसरा अकेला पैर उस प्रवाह में शरीर को न सँभाल सका और एक झटके के साथ उखड़ गया। नदी गरीबदास को उलटती-पलटती, चट्टानों पर पटकती ले गयी। दूर तक उसके छटपटाते हाथ पानी के ऊपर दिखाई देते रहे और फिर वे हाथ, जिनमें बच्चों का आलिंगन छटपटाया था, मौत के आलिंगन में खो गये।"

"दादा!" मैं चीख पड़ा था, "तो क्या गरीबदास मर गया? वह

किनारे नहीं लगा ? बच्चों का क्या हुआ ?"

"गरीबदास के मरने पर बच्चे कमरे में ही बन्द रह गये ।" दादा के स्वर में गहरा अवसाद था । मैं घड़ी भर स्तंभित सा रहा । फिर अनायास मेरी आँखों से आँसू की धारायें वह निकलीं । जी चाह रहा था कि जमीन पर सिर पटक कर जोर से चीख पड़ूं ।

दादा ने अपने हृदय की उमड़न को शब्द देते हुए आगे कहा—"गरीब दास के वे छोटे–छोटे बच्चे–चमना और केवल कब तक रोते–चीखते रहे, किसी ने न सुना । कब उनकी भूख-प्यास से थकी चीख उखड़ी-उखड़ी साँसों में बदल गयी, किसी ने न जाना । कब अपनी फटी–फटी आँखों को दरवाजे की संध में लगा कर बाहर देखते हुए उनकी निष्पाप आत्माएं निकल गयीं, किसे गरज थी ।"

दादा का कंठ गद्गद् हो गया था । उनकी बूढ़ी आँखों में एक अत्यन्त संवेदनशील हृदय के आँसू थे । मैंने किसी तरह अपनी आवाज पर नियन्त्रण रखते हुए पूछा—"फिर गाँव वालों को इस दुर्घटना का पता कैसे चला, दादा ?"

"लगभग दस–बारह दिनों बाद मिथुनदास गरीबदास के लिए औरत की खबर लेकर आया था । वहाँ कमरे पर ताला लगा देखकर वह वहीं दरवाजे के पास छज्जे पर सुस्ताने बैठ गया था । भीतर से दुर्गन्ध का एक जोरदार भभका आया तो उसने आशंकित होकर किवाड़ों के बीच से भीतर देखने की कोशिश की । दुर्गन्ध और भी असह्य हो गयी थी । बच्चों की लाशें दरवाजे के पास ही पड़ी दिखाई दी तो वह एकदम पागलों की भाँति चिल्लाता हुआ गाँव में आया था । उसने रोते - रोते सारी घटना सुनाई तो गाँव के लोग गरीबदास के मकान पर गये थे । ताला तोड़कर जब दरवाजा खोला गया तो दोनों बच्चों के कंकाल एक दूसरे से सटे हुए, बाहों में बाहें डाले, एक दूसरे को देखते हुए पड़े थे । उस हृदय–विदारक दृश्य को देखकर सब हाय-हाय कर उठे थे ।

सबसे बुरा हाल मिथुनदास का था। वह धाड़ मार-मारकर रो रहा था। गाँव के प्रधान ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा —"मिथुनदास! धीरज रखो। अब रोने से कोई फायदा नहीं। तुम गरीबदास के जाति-भाई हो, इन्हें दफनाने ले जाओ।"

मिथुनदास को चुप देखकर प्रधान ने आगे कहा—"गरीबदास ने बच्चों को कमरे में वन्द कर बड़ी भारी गलती की। हमसे कहता तो हम उसके बच्चों के लिए अपनी गोशाला खोल देते।"

इस पर मिथुनदास फिर रो पड़ा। और रोते रोते बोला था—"गलती किसी की नहीं, ठाकुरो, न गरीबदास की और न आप लोगों की। गलती उस भगवान की है जिसने इन बच्चों को एक डोम के घर जन्म दिया वह इन्हें आप लोगों की गोशाला के बछड़े बनाता तो इनकी ऐसी मौत तो न होती।"

२ / विवशताओं के घेरे

"अरे हाँ ! सुशीला की हालत का भी कुछ पता है ?"

रात में भोजन के बाद चूल्हे के पास आग तापती औरतों के बीच जब अचानक यह सवाल उछला था तो एक बड़ी-बूढ़ी ने अपने स्वर में अपने दीर्घ अनुभवों का वजन डालकर घोषणा की थी—"अब उसका बचना मुश्किल है ।" फिर औरतों की प्रश्नात्मक दृष्टि भाँपकर उसने प्रमाण दिया था—"उसके पाँवों में सूजन आ गयी है ।"

यह सुनकर उस स्त्री सभा में एक अजीब-सी उदासी छा गयी थी। उन्हें ऐसा लगा था जैसे वही रात सुशीला की जिन्दगी की अन्तिम रात है और अब किसी भी क्षण उसकी मौत का शंख बजकर समूची घाटी को थहरा उठेगा। तब नींद में डूबा सारा गाँव हड़बड़ा कर उठ बैठेगा और रात का अँधेरा एक अबूझ दहशत से काँपने लगेगा।

किन्तु दूसरे दिन घाटी में जाड़ों की कुनकुनी धूप फैल जाने के बाद जब उन्होंने कंकाल बनी सुशीला को उसके चौक में मुँडेर के सहारे टिकी देखा था तो उन्हें खुशी ही हुई थी कि उनकी आशंका सच नहीं निकली। फिर भी उसे देखकर विश्वास नहीं कर सकी थीं कि वह अब अधिक दिन जी पायेगी। कैसी खूबसूरत और स्वस्थ थी वह और जवानी में ही कैसा डरावना रूप हो गया था उसका। बिखरे-सूखे-उलझे बाल, जिन्हें वह रह-रह कर पाँचों उँगलियों से खुजाती थी, निस्तेज फटी-फटी सी आँखें, धँसे गाल, उठे कल्ले और पपड़ीदार होंठों पर झाँकते पीले दाँत। जैसे फटे-पुराने कपड़ों में कंकाल ही बैठा हो।

आते-जाते लोग उसे दिलासा देते थे—"आज तेरे चेहरे पर पानी है, सुशीला ! जल्दी ही अच्छी हो जाओगी ।"

यह सुन कर उसके चेहरे पर निराशा की कुछ वैसी ही उदास हँसी दिखाई देती थी जैसे पहाड़ की ऊँची चोटी पर डूबते सूरज की अन्तिम बीमार धूप। और उस हँसी में ऐसा दर्द झलकता था जैसे मौत ने उसे दबोचने के पहले अपना पंजा उस मुस्कान पर ही गाड़ा हो।

वह अँधेरी गुफा में फुसफुसाहट के-से स्वर में कहती—"जिन्दगी अब बहुत पीछे छूट गयी लगती है। बस एक बार उन्हें देख पाती तो मौत आसान हो जाती।"

"तेरे आदमी को तेरी इस हालत की खबर है?"

कोई पूछ बैठती तो वह रुक-रुक कर कहती—"क्या मालूम!...... चिट्ठी तो भेजी थी......न खुद आये और न कोई जवाब!"

फिर भविष्यवक्ता के से लहजे में उसे आश्वस्त करने की कोशिश होती—"अरी, जवाब क्या! वह खुद आयेगा, देख लेना।"

और वह गहरी सांस छोड़ते हुए कहती—"लेकिन अब मौत ज्यादा इन्तजार नही कर सकेगी।"

तब लोगों को उसकी बात की सच्चाई गहराई से छू लेती थी। उपस्थित लोग एक करुण अवसाद से भर उठते थे।

सचमुच तब उसके रूप में एक उत्कट प्रतीक्षा ही जी रही थी। परदेश में रह रहे उसके पति के आगमन की दिन-ब-दिन क्षीण होती आशा ही उसमें घुटी-घुटी साँसें ले रही थी। वरना उसे महसूस होने लगा था कि मौत के अहसास के सिवा वह पूरी तरह चुक गयी है।

अपने मायके के उस घर में भी उसके लिए ऐसी कोई स्थिति नहीं थी जो उसके स्नेह-शून्य बुझते जीवन-दीप का कम से कम गुल तो झाड़ती। थोड़ी देर ही सही, रोग के उस अन्धेरे में खुशी की एक क्षीण चमक भी तो उसे नहीं मिल पाती थी।

माँ सौतेली थी, पर इससे क्या! उसकी अपनी सगी माँ भी होती तो उसकी ऐसी हालत में वही क्या कर लेती! लाचारी ही तो दिखा

सकती थी। वह तो सौतेली मां भी दिखाती थी। घर में खाने को दाना नहीं था, फिर दवा-दारू, पथ्य-परहेज कैसे चलता ? वह सोचती—अच्छा हुआ, उसकी अपनी मां पहले ही मर-खप गयी, वरना उसे देख-देख कर रोती-भीकती और उसकी परेशानी ही बढ़ाती। सौतेली माँ से उसे कम-से-कम यह आराम तो था।

बाप था—बूढ़ा और दमा से जर्जर। हाँफते-हाँफते खेत का काम करता और दम उखड़ा-उखड़ा सा घर लौटता था। शाम को चौक की मुंडेर पर घुटने समेट कर बैठा रहता था और घाटी में उतरते हुए अंधेरे का देखता हुआ पता नहीं किस दुनिया में पहुँचा रहता था।

तीन बच्चे थे, जो अक्सर भूख से विवश होकर चुपचाप घर से खिसकते और गाँव में किसी के भी रसोई-घर के दरवाजे से लग कर खड़े हो जाते थे। देहली पर सिर रख कर लेटे हुए गांव के झबरे कुत्ते की तरह ललचाई उनकी आँखें भी भीतर सामने दिखने वाली परसी थाली पर ही टिकी रहती थीं। भीतर से दुत्कार मिलने पर वे थोड़ी देर ही दीवार की ओट में रह पाते थे और फिर भूख से सूखे होठों पर जीभ फेरते हुए सामने हो जाते थे।

लोगों को उन्हें इस हालत में देख कर तरस भी आता था और उस त्रिमूर्ति को—एक ही आवश्यकता के उन तीन चेहरों को—ऐन खाने के वक्त सामने देख कर झुंझलाहट भी उठती थी। किन्तु फिर वे अपनी तरस या खीझ-झुंझलाहट को दूर करने के लिये उन्हें टुकड़ा थमा ही देते थे। और टुकड़ों की यह मूक याचना बच्चों का रोज का काम बन गया था।

गरीबी का यह रूप बीमार सुशीला को निरन्तर तोड़ता चला आया था। वह जब भी बच्चों को छिपे-छिपे चोर-कदमों से गाँव की ओर जाता देखती, उसे वह दिन याद आ जाता जब मां ने भूख से बिलबिलाते उन्हें कुलथ की तरह कूटा था।

उस दिन माँ हारी-थकी खेत से लौटी थी। उसने देखा कि तीनों

बच्चे वैद्य काका की रसोई से लगे खड़े हैं। छोटा दोनों बड़ों के पीछे खड़ा अंगूठा चूस रहा था। वह बच्चों का पेट न भर सकने की अपनी विवशता, उनके उस खुले लुच्चेपन की शर्मिन्दगी और खेती-बाड़ी की उस मेहनत के असन्तोष के कारण, जो जोड़-जोड़ तोड़ती है, पर पेट नहीं भर पाती, बच्चों पर गुस्से से बिफर उठी थी। कूटी-दराती चौक में फेंक कर वह उन पर भूखी बाघिन की तरह झपटी थी। फिर उन्हें घसीटती-धकेलती अपने चौक में लायी थी और फिर दोनों बड़ों को, जो अपने साथ छोटे को भी बिगाड़ रहे थे, इतनी बेरहमी से मारा था कि उनकी ऊपर की सांस ऊपर और नीचे की नीचे रह गयी थी और बीच में रह गयी थीं उनकी पथराई आँखे !

तब सुशीला चाहकर भी उन भूखे बच्चों को मार से बचाने नहीं उठ सकी थी। उत्तेजना की उस हालत में उसका दिल बैठने लगा था। वह तेजी से उठती-गिरती साँसों के बीच से इतना ही बोल पायी थी—"बस करो, माँ ! मार से इनका पेट नहीं भरेगा।"

पर उसकी वह क्षीण आवाज उस चीख-चिल्लाहट में मां सुन ही कहाँ पायी थी ! सुन भी लेती तो क्रोध के उस उन्माद में वह रुकने वाली कहां थी !

बेहोश बच्चों की लाशें बिछी देख कर जब मां का गुस्सा झटके से उतरा था तो वह घड़ी भर उन्हें भौंचक्की देखती रह गयी थी। फिर बच्चों से लिपट-लिपट कर उसने ऐसा विलाप किया था कि पहाड़ों की भी छाती फट गयी थी।

सारा गांव इकट्ठा हो गया था कि पता नहीं क्या हुआ। शायद सुशीला चल बसी ! पर जीवन का वह दृश्य मृत्यु-दृश्य से कम दर्दनाक नहीं था। बच्चों को होश नहीं आया था। एक की नाक से खून जा रहा था और एक का सिर फट गया था। छोटा चुपचाप एक तरफ बैठा अंगूठा चूस रहा था। पता नहीं, उस उत्तेजक स्थिति में भी वह किस

मनस्थिति को लेकर वेलाग था।

बच्चों के लिए गहरी समवेदना से भर कर [illegible] से उसकी मां को खरी-खोटी सुना रहे थे और उसकी माँ हिचक-हिचक कर रोती हुई बच्चों का खून पोंछ रही थी। उसके हाथ खून से सने थे। उस समय किसी ने उसे 'पिचास' कहा था। तब सुशीला के मन में एक सवाल उठा था कि आखिर मां कैसे पिचास बन गयी? माँ क्यों नहीं रह पायी?

ऐसे मौकों पर भी बाप की खामोशी नहीं टूटती थी। वह मुंडेर पर अपनी एक निश्चित मुद्रा में बैठा हुआ ऐसी तटस्थ दृष्टि से देखता रहता था जैसे न औरत उसकी अपनी हो और न बच्चे उसके अपने!

मायके के इस वातावरण में सुशीला रह-रह कर सोचती कि यहां से अच्छी—लाख दर्जे अच्छी बम्बई की वह अँधेरी खोली थी। वहाँ तन का ही रोग था, मन की यह घुटन और टूटन तो नहीं थी।

बम्बई में उसे खुली हवा और चारों ओर चमकती कुनकुनी धूप के लिए अपने ये पहाड़ याद आते थे। वह वहाँ अक्सर सोचा करती थी कि यदि बम्बई की इन सुख-सुविधाओं के साथ उसके अपने पहाड़ों की हवा, झरनों का मीठा कुदरती पानी, खुली धूप और धुली चांदनी जुड़ पाती या उसके पहाड़ों में ही जीने की सहूलियतें होतीं तो कितना अच्छा रहता!

किन्तु पहाड़ों में आँखों और फेफड़ों के लिये तो बहुत कुछ है, पेट के लिए क्या है? कोदा–झंगोरा? वह भी साल भर पूरा कहां पड़ता है। पैसे हों तो भावर से खच्चरों पर राशन मंगालो। नहीं मँगा सकते तो खाओ जंगली पत्तों का साग—यों ही पानी में उबाल कर नमक के साथ। छौंक और मसालों के बिना कैसा तो बकबका लगता है। और वह 'बसिंगा'? ओह, कितना कड़वा होता है! कड़वाहट निकालने के लिये पहले उसे खूब उबालते हैं। फिर पोटली में बांध कर रात भर धार के

नीचे रखते हैं और तब भी उसकी भुज्जी ऐसी कड़वी जैसे नीम की पत्तियाँ चबा रहे हों। ठीक है, बड़ी स्वास्थ्यकर होती है पर खायी जा सके तब न!

बम्बई में मन चाहा खाने को था, पर उस अँधेरी खोली में दिन भर पड़े-पड़े उसकी भूख ही जाती रही थी। पति किराये की टैक्सी चलाता था। वह सुबह रात खुलते ही काम पर निकल पड़ता था और काफी रात गये लौटता था। एक-दो बार काम का हर्ज कर वह उसे डाक्टरों के पास भी ले गया था, पर किसी के भी इलाज से कोई फायदा नहीं हुआ था। सुशीला की दिन-ब-दिन गिरती हालत देखी तो उसके पति को हवा-बदल के लिए अपने पहाड़ याद आये। पर. उसके गाँव में उसका अपना कोई नहीं था—न माँ-बाप, न चाचा-ताऊ। बीमार सुशीला को वहाँ अपने वर्षों से बन्द पड़े मकान में किसके भरोसे छोड़ता। इस लिए वह सुशीला को उसके मायके छोड़ गया था। बम्बई लौटते समय सास के हाथ में रुपये रखते हुए उसने कहा था—"यह घर-खर्च के लिए है। बम्बई से भी भेजता रहूंगा। किसी तरह की तंगी में न रहें। और हाँ, इसके पथ्य-परहेज का ध्यान जरूर रखना। वैद्य जी से कह गया हूं, वे दवा दे जाया करेंगे।"

तब उन रुपयों से अरहर की दाल, हंसराज का चावल, गेहूं, गुड़ की भेलियाँ, मिर्च मसाला, चाय का एक बड़ा डब्बा सब मिला कर दो खच्चरों की लाद आयी थी मंडी से।

उन दिनों ही सुशीला को घर के बच्चे किसी के दरवाजे पर खड़े नहीं दिखाई दिये थे। उन दिनों ही मां भी बच्चों के लिए बड़ी ममतामयी रही थी। दमा का मरीज बाप भी उन दिनों ही कम खांसा था और उन्हीं दिनों पहाड़ का हवा-पानी उसे भी माफिक आया था।

फिर वही चून का बेस्वाद, बदरंग बाड़ी चलने लगा था। वही घास-पात उबलने लगा था। वही छँछिया। वही मँडुए की मोटी खुश्क

रोटियाँ । यानी गृहस्थी अपनी पुरानी औकात पर आ गयी थी ।

माँ-बाप को मन ही मन पोस्टमैन का इन्तजार रहने लगा था। जवाँई बम्बई से और रुपये भेजने का आश्वासन जो दे गया था। पोस्टमैन हफ्ते में एक दिन गाँव की गश्त पर आता था। उस दिन सुबह से ही उनकी निगाहें जाने - अनजाने उस रास्ते पर उठती रहती थीं, जिससे होकर पोस्टमैन गाँव में आता था। लेकिन कई हफ्ते गुजर गये, हर बार वह 'कोई डाक नहीं' का दिल-तोड़ संदेश ही लाया था।

सुशीला ने अपने बाप से पत्र लिखने के लिए कहा तो वह सिर झुकाए चुप बैठा रहा। उसकी निराश मुख-मुद्रा और चुप्पी से सुशीला झुंझला - सी गयी—"क्या सोच रहे हो, बाबजी ! चिट्ठी क्यों नहीं लिख देते। उन्हें कोई सपना होगा कि यहाँ घर में खाने को दाना भी नहीं !"

"क्या लिखूं, बेटी ?" वह हाँफते हुए बोला था—"क्या जवाँई के लिए यह लिखूं कि मायके आयी मेरी बेटी के लिए खर्च भेजो ?"

बात की सच्चाई महसूस कर सुशीला फिर कुछ नहीं बोल पायी थी। तब उसने गाँव के मिडिल-पास बिछना भैजी से चिट्ठी लिखाई थी। चिट्ठी में सब बातें खुलासा कर दी थी और यह भी लिख दिया था कि वह उसे वापस बम्बई ले जाये। लेकिन, न वह खुद आया और न चिट्ठी का कोई जवाब।

× × ×

वैद्य काका के इलाज के बावजूद सुशीला का स्वास्थ्य दिन-ब-दिन गिरता ही चला गया था। अब तो उनकी पुड़िया से, पता नहीं क्यों, उसके शरीर में आग-सी भड़क उठती थी। उसने वैद्य काका से कहा तो उन्होंने पूछा—"दवाई दूध के साथ ही लेती हो न ?"

सुशीला चुप रह गयी। कैसे कहती कि उनकी गाय गिलास भर दूध देती है जो दमा के रोगी बाप की चाय के लिए भी पूरा नहीं

पड़ता।

वैद्य काका घर की हालत अच्छी तरह जानते थे। उन्होंने पुड़ियाँ देते हुए कहा–'यदि दूध हो तो लेना, वरना कोई फायदा नहीं।"

पुड़ियाँ लौटाते हुए सुशीला बोली—"काका! दूध नहीं हो सकेगा। पानी के साथ ली जा सकने वाली दवाई हो तो दे जाओ।"

"ऐसी कोई दवाई मेरे पास नहीं, बेटी!" और वैद्य काका भारी मन लेकर चले गये थे।

सुशीला अब और भी बुझ गयी थी। उसके पांवों में सूजन आ गयी थी। वह चौक में दीवार का सहारा लिए बैठी थी। उसका बाप वहीं मुंडेर पर बैठा हुक्का गुड़गुड़ा रहा था। तभी फेफड़ों पर तम्बाकू के तीखे धुएं का ऐसा धक्का लगा कि वह खांसते-खांसते दुहरा हो गया। आँख-नाक बहने लगीं और जब ढेर सारा बलगम निकला तब कहीं उस की साँस में सांस आयी। सुशीला को अपनी ओर देखते पाकर बोला—"इस खाँसी ने तो मेरे अंजर-पंजर ढीले कर दिये हैं।" फिर सुशीला की कोई प्रतिक्रिया न पाकर पूछ बैठा था—"तेरी तबीयत कैसी है?"

यह वास्तव में न तो उसका प्रश्न था और न उसकी जिज्ञासा। यह एक लाचार बूढ़े बाप की मात्र औपचारिकता थी। इस औपचारिकता के जवाब में भी वह सुशीला से यही औपचारिक उत्तर चाहता था कि 'अच्छी हूं।' अगर उसने 'अच्छी नहीं' कह दिया तो वह चुप रह जाने के अलावा कर भी क्या सकेगा। वह स्वयं को लाचारी की उस अवस्था में पहुंचा हुआ महसूस करने लगा था जहाँ सहानुभूति के शब्द उसकी अपनी ही दृष्टि में अर्थहीन हो गये थे।

सुशीला सब समझने लगी थी। इसलिए उसने कहा था–"ठीक हूं, बाबा।"

सुशीला की मुख-मुद्रा से बाबा को ऐसा महसूस हुआ जैसे वह कुछ और कहना चाह रही है। वह निगाहें हटा कर शाम के धुंधलके से भरी

घाटी में देखने लगा।

बाप का अन्दाज सही था। सचमुच सुशीला कुछ आगे भी कहना चाह रही थी। बाप की उपेक्षा के बावजूद वह बात चला ही बैठी—"बाबजी!"

बाप आशंकित-सा चौंका—"क्या है, बेटी?"
"जबान सूख रही है।"

बाप की चुप्पी जैसे कह रही थी—"तो फिर मैं क्या कर सकता हूँ।" "नारंगी का जी चाह रहा, बाबजी।"

"नारंगी?" बाप ने ऐसे ढ़ंग से कहा जैसे पूछ रहा हो कि उसने गलत तो नहीं सुना।

"हाँ, बाबजी! कई दिनों से जी चाह रहा है। आज नहीं रहा गया तो बोली हूँ।"

"लेकिन, बेटी! अब इस गाँव में नारंगियाँ होती कहां हैं! पता नहीं, यहाँ की मिट्टी अब कैसी हो गई कि पुराने पेड़ सब सूख-सुखा गये और नयी पौध होती ही नहीं।"

"नौबाड़ी गाँव में तो अब भी खूब होती है, बाब जी!"

नौबाड़ी का नाम सुनते ही बूढ़े के सामने पहाड़ की वह खड़ी चढ़ाई घूम गयी जिससे होकर वहाँ पहुंचते हैं।

उसे चुप देख कर सुशीला ने समझा कि शायद बाबजी पैसों की वजह से चुप हैं। उसने धोती के छोर से बंधा एक रुपये का नोट खोल कर बाप की ओर बढ़ाया—"यह रुपया है। किसी को भेज कर मंगा देना।"

"अपना काम छोड़ कर हमारे लिए कोई क्यों जायेगा, बेटी!" बूढ़े के स्वर में अपनी लाचारी से शिकायत थी—"कल सुबह मैं ही चला जाऊंगा।" और इस स्वीकृति के साथ वह अपनी अशक्तता महसूस करने लगा था।

दूसरे दिन चौक में कथरी पर घुटने समेट कर लेटी हुई सुशीला ने जब धूप की तेजी महसूस की तो हाथों का सहारा लेकर उठ बैठी। देखा, दोपहर हो गयी थी। गाँव के ढ़लुवाँ मकान धूप में पूरी तरह नहा रहे थे। लोग-बाग खेतों से लौटने लगे थे। पानी की धार पर हाथ-पैर धोती गाँव की औरतों की परिचित आवाजें सुनाई देने लगी थी। पर, अब तक न उसका बाप ही नौबाड़ी से लौटा था और न मां ही खेत से आ पायी थी। बच्चे भी सुबह से ही नदारद थे।

बच्चों की याद आते ही उसने अपने रसोई-घर की तरफ देखा और एक अजीब व्यंग्यपूर्ण मुस्कान उसके चेहरे पर अनायास खिच आयी थी—'उँह ! रसोई-घर ? नहीं, केवल 'घर' जिसका 'रसोई' से कोई सम्बन्ध नहीं।

तभी उसे खट-खट की परिचित-सी आवाज सुनायी दी। देखा, पोस्टमैन अपने नालदार बूटों को चौक पर बजाता हुआ चला आ रहा था।

वह आया और सुशीला के पास ही मुंडेर पर बैठ कर अपना चमड़े का थैला खोलने लगा। सुशीला ने अपनी सूखी नाडियों में जिन्दगी सी दौड़ती अनुभव की। पोस्टमैन ने एक लिफाफा उसकी ओर बढ़ाया तो वह थरथराती आवाज में बोली—"तुम्हीं पढ़ दो न, दादा ! मुझे पढ़ना कहां आता है !"

चिट्ठी सुनकर, जो एक जोत-सी पहले उसके चेहरे पर उजागर हुई थी, वह भक् से बुझ गयी।

पोस्टमैन उसके हाथों में खुली चिट्ठी थमा कर चला गया था और वह पूरी तरह टूटी हुई बैठी रह गयी थी।

जब पानी की एक बड़ी बूँद टप-से उसके माथे पर टपकी तो उसका ध्यान टूटा। देखा, गाँव के ऊपर एक बड़ा काला बादल तन आया था।

वह चौक से सरकती हुई गयी और भीतर अपने झिलंगे खटले पर फटे-पुराने गुदड़ों में ढेर हो गयी।

खेत से लौट कर मां ने उसे इस तरह लेटी देखकर पुकारा—"सुशीला ! ...... सुशीला !"

उसमें कोई हरकत नहीं हुयी। पता नहीं, वह बेहोशी की नींद में थी या नींद की बेहोशी में।

मां घबराकर कातर स्वर में चीखी—"सुशीला !"

"ऊं" की एक धीमी आवाज सुनाई दी तो मां की जान में जान आयी—"अरी, मैं तो डर ही गयी थी !"

सुशीला का कांपता कमजोर हाथ गुदड़ी से बाहर निकला। उसमें चिट्ठी देख कर मां ने खुशी से पूछा—"किसकी है ? जवाँई की है क्या ?"

"हां।" सुशीला की बुझी आवाज से आशंकित हो कर मां ने पूछा—"क्या लिखा है ?"

"वे नहीं आ रहे हैं।"

"क्यों ?"

"आने-जाने में बहुत खर्च होता है।"

"तो ?"

"रुपये भेज देगें।"

थोड़ी देर खामोशी रही। फिर सुशीला ने पूछा—"बाबजी नहीं आये, मां ?"

"जबान सूख रही है क्या ?"

"नहीं। वर्षा के आसार हैं, इस लिए पूछ रही हूं।" फिर कुछ ठहर कर बोली-"बुढ़ापे का शरीर है। आग लगे मुझ पर; मैंने उन्हें क्यों भेजा ! जाड़ों की इस वर्षा में भीग गये तो अकड़ ही जायेंगे।"

"हाँ, ठीक कहती हो।" माँ ने उसका समर्थन किया—"दमे ने

उन्हें बुरी तरह तोड़ दिया है। चढ़ाई पर कदम-कदम पर सुस्ताते-सुस्ताते अब जाकर कही नौबाड़ी पहुंचे होंगे।"

"वर्षा के क्या हाल हैं ?" सुशीला ने पूछा

"बादलों से आसमान पूरा घिरा है।" मां ने कहा

"तब ?"

"तब क्या ?" मां ने निश्चिन्तता से कहा—"तेरे बाबजी नौबाड़ी ही ठहर जायेंगे। हाँ लौटते समय रास्ते में वर्षा ने पकड़ा तो जरूर मुसीबत रहेगी।"

और दोपहर के बाद वर्षा जो शुरु हुई तो रात तक अखंड चलती रही। ठंड काफी बढ़ गयी थी। मां सुशीला के लिये चाय का गिलास लायी--"सुशीला ! ले चाय लायी हूं।"

गुदड़ी के अन्दर कोई हिलन-डुलन नहीं हुई तो मां ने गिलास खटले के नीचे रखा और गुदड़ी हटा कर सुशीला के माथे पर हाथ रखा—एक दम ठंडा। शायद उस गर्म स्पर्श से ही सुशीला ने आंखें खोलीं। मां ने दुनिया की पहचान से शून्य उसकी घूमती पुतलियों को देखा तो एक भय की-सी सिहरन उसके शरीर में दौड़ गयी। सुशीला की निगाहें इधर-उधर कुछ खोजती-सी भटक रही थी।

"क्या चाहिए, बेटी ?" मां ने विह्वल होकर पूछा।

सुशीला के होंठ कुछ देर बोलने के प्रयास में कांपते रहे और फिर फुसफुसाहट के स्वर में मां को सुनायी दिया—"बा-ब-जी ?"

"सुबह आ जायेंगे, बेटी ! फिकर मत कर।" मां ने आश्वासन दिया, पर उसे ऐसा लगा जैसे वह उसे ले नहीं पायी है। उसकी फटी-फटी आंखे उसी तरह घूम रही थीं।

मां समझ गयी कि बस अब दीपक की बुझी बाती पर जलते गुल की क्षणस्थायी चमक ही बाकी है। वह झटपट गयी और वैद्य काका को बुला लायी। उन्होंने नाड़ी देखते हुए सिर हिलाकर बताया कि अब कोई आशा नहीं। दोनों ने सुशीला को खटले से उठाया और जमीन पर

रख दिया। मां ने गंगाजल की शीशी से दो-तीन बूँदें उसके मुँह में डाली और आँसू पोंछते हुए रुदन के स्वर में कहा—"राम-राम बोल, बेटी।" लेकिन, जिसने बोलना था वह जा चुका था।

सुबह धूप निकलने पर जब सुशीला के बाबजी नारंगी लेकर लौटे तो जहाँ सुशीला अक्सर धूप सेंकती बैठी रहती थी वहाँ उसकी अर्थी सज रही थी।

बूढ़ा चीख पड़ा—"सुशीला !" और फिर खाँसते-खाँसते बेदम हो गया था।

३ / पुंश्चली

उस दिन ग्रीष्मावकाश में गाँव आये हुए वे चारों मित्र रामकृष्ण की तिवारी में बैठे थे। चारों छुट्टे कालेज के विद्यार्थी, निश्चिन्त गप्प-गोष्ठी जमी हुई थी। हास-परिहास का वातावरण गर्म था।

अचानक 'शान्तं पापम्, शान्तं पापम्' कहते हुए लोकमणी चालू हुआ—"भाइयो! हँसी-मजाक बहुत होली। अब जरा 'सीरियस' हो लें। तुम्हें सुनाने के लिए एक ताजा समाचार मेरी जेब में कब से कुलबुला रहा है। अब तक मैं उचित अवसर की प्रतीक्षा में ठहरा रहा, लेकिन तुम्हारी इस व्यर्थ की हो-हो, हा-हा ने मौका ही नहीं दिया। मैं जानता हूँ कि तुम लोग सदैव सस्ती बातें सुनने के ही मूड में रहते हो, लेकिन मुझे विश्वास है कि मेरी इस खबर को सु कर तुम उछले बिना नहीं रहोगे। आज तक मैं तुम्हें गाँव के गोपनीय से गोपनीय रहस्यों की प्रमाणिक जानकारी देकर तुम्हारा इहलौकिक कल्याण साधता रहा हूं। अपनी इसी स्वस्थ परम्परा......"

"अबे लोकमणी! तेरा दिमाग तो नहीं चल गया?"राम कृष्ण ने ऊब कर टोका।

"साला भूमिका बांधे जा रहा है।" मदन भी झुंझला गया था।

"और खबर होगी टुच्ची सी।" कैलाशपति बोला

"बच्चो!" लोकमणी के स्वर में क्षमा का भाव और उठे हुए हाथ में अभय की मुद्रा थी—"अभी तुम अबोध हो! तुम्हें गाढ़ा लाल रंग काला दिखाई दे रहा है! तुम मेरी बुद्धिमत्ता को पागलपन समझने की भूल कर रहे हो!"

"राम-राम!" मदन ने करुणा दिखाते हुए कहा—"अपने बाप के इस इकलौते बेटे का कैसा बुरा हुआ! कुआँरा ही पगला गया!"

लोकमणि को छोड़ कर सब हँस पड़े। फिर चन्द्रमणि ने कहा—"यह एक्टिंग छोड़ यार, खबर सुना।"

लोकमणि को मन ही मन मजा आ रहा था। उसने चारपाई पर आसन बांधते हुए और भी गुरु-गम्भीर वाणी में कहा—"सर्व प्रथम श्रद्धावान् बनो। ऋषि-वचन है—श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्। अर्थात् श्रद्धावान् ज्ञान प्राप्त करता है और संशयात्मा......"

"विनश्यति।" कैलाशपति ने पूरा किया।

"अर्थात् संशयग्रस्त व्यक्ति नष्ट हो जाता है।" मदन ने अनुवाद किया।

"धन्य हो, महाराज!" कहते हुए रामकृष्ण ने उठकर महाराज जी के चरण-स्पर्श किये—"मेरी यह तिबारी आपकी चरण-धूलि से पवित्र हुई।" फिर उसने एक जोर का नारा लगाया—"बोल गुरु महाराज की......"

सब चिल्लाए—"जै।"

और अब लोकमणि भी ठहाकों में फूट पड़ा था।

रास्ते में जुहारसिंह कंधे पर हल लिए अपनी धुन में जा रहा था। चौंक कर तिबारी की तरफ देखने लगा। फिर ऊंची आवाज में बोला—"खूब हंसी-मजाक चल रही है, लोकमणी! क्या बात है?"

"हे ठाकुर-शिरोमणे!" लोकमणि में ऋषियों की आत्मा फिर बोलने लगी थी—"गुह्य रहस्य सड़कछाप नहीं होते। उनके श्रवण के लिए गुरु का सन्निध्य अत्यावश्यक होता है। यदि वस्तुतः जिज्ञासु हो तो गुरु की शरण में आओ।"

जुहारसिंह समझ गया कि ये उचक्के हैं। वह चुपचाप अपने रास्ते पर हो लिया। उसकी पीठ पर फिर ठहाके पड़े, पर अब वह मुड़कर देखने वाला नहीं था। कौन अपनी बेइज्जती कराये!

"हां तो खबर सुना।" कैलाशपति ने कहा

लोकमणि सहज हो गया था। आसन खोलकर बोला—"मेरे नाम एक

गोपनीय पत्र आया है भारत की राजधानी से।"

कैलाशपति एकदम पूछ बैठा—"भारत सरकार का ?"

इस पर उसके साथी हँसने लगे तो उसे महसूस हुआ कि वह बुद्धू बन गया है। अपनी झेंप को छिपाने के लिए वह भी उनके साथ हँसने लगा।

मदन ने कहा—"दिल्ली के लिए भारत की राजधानी के प्रयोग से भ्रम में पड़ कर ही कैलाशपति ऐसा प्रश्न कर बैठा।"

"यह स्वाभाविक है।" रामकृष्ण ने कहा, "हर शहर, बल्कि हर छोटे से छोटे गाँव का भी अपना एक अलग व्यक्तित्व होता है। भारत की राजधानी कहलो या दिल्ली, उसके व्यक्तित्व के साथ राजनीति इतनी प्रमुखता से जुड़ी है कि उसका नाम सुनते ही सर्व प्रथम उसकी राजनीतिक गतिविधियों का ही बिम्ब मन पर अंकित होता है। जैसे बम्बई के नाम के साथ फिल्म उद्योग, फैशन, रोमांस का बिम्ब।"

कैलाशपति को मौका मिल गया—"ऐसा है तो मुझ पर हँसे क्यों ?"

"ठीक कहता है कैलाशपति।" मदन ने समर्थन करते हुए तर्क दिया—"हास्य का सम्बन्ध अस्वाभाविकता से है, स्वाभाविकता से नहीं।"

"मैं इससे सहमत नहीं।" रामकृष्ण ने कहा, "मनुष्य की कोई भी चेष्टा या बात अस्वाभाविक नहीं होती। हर असंगत लगने वाली वस्तु के मूल में मनोवैज्ञानिक संगति होती है। जब अस्वाभाविक या असगत लगने वाली बात के परदे में छिपी उसकी संगति या स्वाभाविकता हमारी पकड़ में आ जाती है तब भी हम हँस पड़ते हैं। अर्थात् सूक्ष्म स्वाभाविकता की पकड़ भी हमें गुदगुदाती है।"

"तब हम इस लिए नहीं हँसते," मदन ने दलील दी, "कि बात की संगति हमने पकड़ ली है, बल्कि इस लिए हँसते हैं कि हम उसे असंगत समझते रहे। याने असंगति की समझ ही हास्य पैदा करती है।"

"मुझे नहीं मालूम था," कैलाशपति पछतावे के स्वर में बोला, "कि मेरी एक यों ही कही गयी बात सारा रस-भंग कर देगी।" फिर

लोकमणि से बोला—"बताओ, यार; चिट्ठी में क्या है ?"

लोकमणि ने कहा—"इनकी बहसबाजी ने सारी बात का ही मजा किरकिरा कर दिया । अब कहूँ भी तो तुम्हीं कहोगे— धत् तेरे की, खोदा पहाड़ निकली चुहिया ।"

"खबर तो सुना।" रामकृष्ण बोला, "फिर हमें जो कुछ कहना होगा, विश्वास रख, तेरे शब्दों में नहीं कहेंगे ।"

"बात यह है," लोकमणि ने कहा— "कि वह दौलतराम है न जो दिल्ली में प्रिन्सिपल है, उसकी पत्नी उसे छोड़कर अलग रहने लगी है "

"अच्छा !" मदन और रामकृष्ण के स्वर में विस्मय था। कैलाशपति कुछ न समझ सकने के कारण इस-उसका चेहरा देख रहा था ।

"यह तो यार, तूने बड़ी मजेदार खबर सुनायी ।" रामकृष्ण ने रस लेते हुए सीने पर हाथ रखकर कहा—"दिल को बड़ी ठंडक मिली है ।"

यह बात कैलाशपति को पसन्द नही आयी । वह बोला—"इसमें खुशी और मजे की क्या बात । ऐसी स्थिति में तो दौलतराम के साथ सहानुभूति होनी चाहिए ।"

"धन्य हो महात्मा जी !" रामकृष्ण ने व्यंग्य करते हुए कहा— "अब जरा यह भी बता दें, महाराज जी, कि अत्याचारी को जब उसके अत्याचार का दंड मिलता है तब मजा आता है या उसके प्रति सहानुभूति होती है ?"

"आता तो मजा है, पर आना नहीं चाहिए ।" कैलाशपति ने कहा— "प्रकृति और संस्कृति में यही तो अन्तर है ।"

"इस आदर्शवाद को लेकर व्यवहार नहीं निभता, कैलाशपति!" मदन ने कहा—"तुम पहली बार गाँव आये हो इसलिए तुम हमारी खुशी को नहीं समझ पा रहे हो । इस दौलतराम ने अपनी पहली पत्नी विद्या के

साथ क्या किया, तुम्हें नहीं मालूम।"

"विद्या को उसने घर से ही नहीं निकाला, दुनिया से भी निकाल दिया।" लोकमणि बोला।

"लेकिन लोकमणी!" मदन ने कहा—"लोग कहते हैं कि वह बदचलन थी। यदि यह सच है तो दौलतराम ही उसे घर में कैसे रख सकता था। ऐसी हालत में कोई भी होता, वही करता जो उसने किया।"

लोकमणि ने पूरे विश्वास के साथ कहा—"विद्या बदचलन नहीं, उसकी परिस्थितियाँ बदचलन थी। लोगों की दृष्टि सतह देखती है, गहराई नहीं नापती।" फिर कुछ रुककर बोला—"दौलतराम की जगह पर मैं, तुम या कोई भी दूसरा पुरुष होता तो मैं समझता हूँ कि विद्या के भ्रष्ट होने की नौबत ही न आती।"

"तो क्या उसकी भ्रष्टता का कारण खुद दौलतराम है?" कैलाशपति ने जैसे बात पकड़ ली थी।

"हाँ।" लोकमणि की 'हाँ' में विश्वास का वजन था, "दौलतराम ही उसकी तथाकथित भ्रष्टता और अन्ततः मौत का कारण है।"

"तुम्हारी बातों से ऐसा लगता है।" मदन ने कहा—"कि तुम्हें समूची घटना ब्यौरेवार मालूम है।"

"घटना तो सभी को मालूम है," लोकमणि ने कहा, "लेकिन उन परिस्थितियों पर किसी ने नजर नहीं डाली जिनमें वह घटी। यदि ऐसा होता तो आज विद्या को कोई भी भ्रष्ट नहीं कहता।"

"शुरू से बताओ भाई लोकमणि!" कैलाशपति ने आग्रह किया—"इन्हें तो कुछ मालूम भी है, मेरे लिए तो बिल्कुल नयी बात होगी।"

"तो सुनाऊँ?" लोकमणि ने पूछा।

"हाँ-हाँ, जरूर सुनाओ।" मदन और रामकृष्ण भी सुनने के लिए उत्सुक थे।

लोकमणि कहने लगा—"दौलतराम की शादी छुटपन में हो गयी

थी। ब्याह में उसे इतना दहेज मिला कि इस इलाके में कभी किसी को क्या मिला होगा । सींगों को सोने से मढ़कर गोदान हुआ था। चाँदी के गर्दन-तोड़ मोटे हँसले और वैसे ही कलाई--तोड़ चाँदी के धागले पहनकर तो सभी लड़कियां ससुराल आती हैं, पर विद्या के सारे जेवर, झँवरियों को छोड़कर, सोने के थे। पाँवों में सोना डालना अच्छा नहीं माना जाता, इसलिए झँवरियाँ चाँदी की रह गयी, वरना वे भी सोने की ही बन कर आती । गृहस्थी में काम आने वाली, सुई से लेकर सिलाई मशीन तक और चम्मच से लेकर बड़े-बड़े कलशों तक हर आवश्यक वस्तु दहेज में दी गयी थी।

"मैं पूछता हूँ, विद्या के बाप ने यह सब किस लिये दिया था? और लड़कियाँ जैसी व्याही जाती हैं, वह भी उसी तरह साधारण ढंग से अपनी पुत्री का व्याह कर सकता था। उस पर लड़के वालों की कोई जोर-जबरदस्ती थोड़े थी । कौन-सा दौलतराम लाट साहब था कि दहेज का दबाव डालते। उस समय तो वह केवल प्राइमरी पास था—बारह वर्ष की उम्र का एक साधारण बालक। दिल्ली के हायर सेकंडरी स्कूल का प्रिन्सिपल तो अब हुआ है। फिर, बिना माँगे इतना दहेज क्यों दिया था, उसके बाप ने ?" यह कहकर उसने अपने साथियों पर नजर घुमायी— "अबे, क्या बुत बने बैठे हो! कहते क्यों नहीं ?"

"अच्छा तो तुम हमसे पूछ रहे हो ?" कैलाशपति ने कहा, "मैं तो समझा कि तुम प्रश्नात्मक ढंग से कहानी सुना रहे हो ।"

"विद्या के बाप के पास देने के लिए काफी था, इसलिए दिया ।" रामकृष्ण ने बात चलती करने के लिए कहा ।

मदन ने गम्भीरता से कहा, "होने के तो बहुत से बापों के पास बहुत कुछ होता है, पर सभी कहाँ देते हैं ? विद्या के बाप के पास देने के लिए भी था और यह भावना भी थी कि बेटी ससुराल में सुख से रहे और

कोई अभाव न देखे।"

"और जब उसके बाप को पता लगा होगा कि इन जालिमों ने उस की बेटी को बिल्कुल नंगा करके निकाला तो उसके उस भावनाशील हृदय पर क्या बीती होगी?" यह कहकर लोकमणि ने एक आह खींची, "दौलतराम ने दो-चार जेवर जो वह पहने रहती थी, वे भी उतरवा दिये थे। अरे, उसे निकाल ही रहा था तो कम से कम उसके जेवरों की ही गठरी उसके हाथ में रखकर बोलता कि यह ले अपनी गुजर-बसर के लिए और जा, अब तुझसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। लेकिन लोभ ऐसा करने देता तब न! दौलतराम ने विद्या को जिस प्रकार साधनहीन करके निकाला वह विद्या के उस क्षणिक वासना के उफान से कहीं अधिक अमानवीय था, किन्तु दण्ड केवल विद्या को मिला। यह कहाँ का न्याय था? क्या दौलतराम ने विद्या से अधिक चरित्रहीनता नहीं दिखायी थी?"

"ठीक कहते हो।" मदन ने समर्थन किया। "हमारे यहाँ केवल सेक्स ही चरित्र का मापदण्ड है। सेक्स से गिरा हुआ व्यक्ति अनेक सद्-गुणों के बावजूद चरित्रहीन और हर तरह से नीच होते हुए भी यदि कोई लंगोट का पक्का है तो वह चरित्र से ऊंचा माना जाता है।"

कैलाशपति कथा-प्रवाह के इन अवरोधों से ऊब रहा था, इस लिए मदन की बात समाप्त होते ही उसने लोकमणी से कहा—"मूल बात पर आओ यार!"

लोकमणी आगे बोला—"विवाह के बाद दस वर्ष की बालिका विद्या को ससुराल और मायके के बीच लटका दिया गया था। वह कभी मायके भेजदी जाती तो कभी ससुराल धकेल दी जाती। किशोरावस्था आने तक वह इस आने-जाने को ही व्याह समझती रही। वह इस व्याह पर तब बहुत रोती थी।

"उधर दौलतराम को संस्कृत पढ़ने के लिए हरिद्वार भेज दिया गया

था । छुट्टियों में घर आता तो विद्या के साथ बच्चों के खेल खेलता । लोग उनके सम्बन्धों को लेकर उन्हें छेड़ते, उनका मजाक बनाते और इस तरह अनजाने ही उन्हें पति-पत्नी के आपसी सम्बन्धों का संकेत दे जाते । इससे यह हुआ कि जवानी आने के पहले ही विवाह ने उनके सामने अपना अर्थ खोल दिया । उनके जीवन में यौवन विवाह की माँग लेकर नहीं, विवाह यौवन की माँग लेकर आया था । परिणाम यह हुआ कि जब दोनों ने युवावस्था के क्षेत्र में पदार्पण किया तो दोनों को वहाँ वीरानी दिखायी दी–कहीं रस नहीं, कहीं रंगीनी नहीं ।..........."

"लेकिन, विद्या तो तब बड़ी स्वस्थ और सुन्दर थी ।" मदन ने कहा, "हाँ, दौलतराम जरूर बाँस का झींकड़ा-सा दीखता था ।"

लोकमणि बोला—"तभी तो मैंने कहा कि उनके दाम्पत्य-जीवन में कोई रस नहीं रह गया था । दाम्पत्य जीवन का सुख दुतरफा रस में है । इकतरफा रस घुट कर रह जाता है । और जब उस रस को बहने की राह नहीं मिलती तो वह विष बन जाता है । .... दौलतराम शास्त्री की परीक्षा उत्तीर्ण कर नौकरी की खोज में दिल्ली गया । भाग्य ही समझिए कि जाते ही उसे एक स्कूल में संस्कृत अध्यापक की जगह मिल गयी । अब उसे अपनी योग्यता बढ़ाने की धुन सवार हुई । किसी न किसी परीक्षा की तैयारी में जुटा रहने लगा । साल-दो साल में दो-चार दिनों के लिए गाँव आता और फिर लम्बे समय के लिए अपनी परीक्षाओं में खो जाता । हाँ, प्रतिमास अपने बाप के नाम एक निश्चित रकम का मनिआर्डर करना नहीं भूलता था । विद्या ने एक बार जब वह गाँव आया था, बहुत कहा कि वह उसे भी अपने साथ ले जाये, पर उसने दिल्ली में मकान की परेशानी बता कर उसका अनुरोध टाल दिया था ।

"उस बार जब उसे बुलाने के लिए उसके बाप ने दुगड्डे जाकर झूठा तार दिया था कि उसकी माँ सख्त बीमार है, शीघ्र आओ तब

कहीं वह तीन वर्ष बाद घर आया था। घर में माँ को ठीक-ठाक देखकर जब वह नाराज हुआ कि उसके काम का बड़ा हर्ज हो गया है तब उसके बाप ने उसे असमय बुलाने का कारण बताया था। सुनते ही वह अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठा था। क्योंकि जो कुछ उसने पढ़ा था परीक्षाएँ पास करने के लिए पढ़ा था, जीवन में उतारने या लागू करने के लिए नहीं।

'अपनी पत्नी विद्या को गर्भवती जानकर उसने अपने व्यक्तित्व का ऐसा बदसूरत प्रदर्शन किया कि लोग-बाग विद्या के अपराध को भूल कर उस पर ही थू-थू करने लगे थे। उस दिन शाम के समय घर पहुँचते ही उसके बाप ने उसको विद्या की बात बता दी थी। थोड़ी देर बाद जब विद्या खेत के काम से थकी-मांदी घर लौटी तो क्रोध में भरा बैठा दौलतराम छज्जे से दनदनाता सीढ़ियाँ उतर कर चौक में आया था। आते ही उसने गालियों की बौछार के साथ विद्या के पेट पर जोर से लात मारी थी। वह जमीन पर गिर कर ऐंठने लगी थी। वह लातें बरसाते हुए पूछ रहा था—'बता पुंश्चली ! यह पाप किसका है ? मैं उस का खून पी जाऊँगा।'

"उस दिन काफी रात गये तक दौलतराम के मकान से गाली-गलौज और चीख-चिल्लाहटों की आवाजें आती रहीं। एक आवाज बार २ गरजती थी—'बता, बता वह कौन है ? मैं उसे जिन्दा नहीं छोड़ूँगा।' और इसके बाद हृदय-विदारक चीखें उठती थीं। वह तूफान विद्या को घर से निकाल देने पर ही शान्त हुआ था।"

"क्यों गुरु !" रामकृष्ण ने पूछा—"यह भी जानते हो कि वह दुष्ट कौन था, जो विद्या को विपत्ति में देखकर भी सामने नहीं आया।"

"हाँ, जानता हूँ।" लोकमणि की इस अप्रत्याशित स्वीकृति से सब चौंक पड़े। फिर मदन ने पूछा—"कौन था वह ?"

"उदयराम।" लोकमणी ने कहा तो सब आश्चर्य चकित रह गये।

"उदयराम ? दौलतराम का खुद अपना भाई ? कैलाशपति के स्वर में

विस्मय था।

"हाँ।" लोकमणि ने कहा

"विश्वास नहीं होता, यार।" मदन ने कहा

"लेकिन वह उदयराम ही है, तुम्हें कैसे मालूम हुआ ?" रामकृष्ण जानना चाह रहा था कि कहीं यह लोकमणि का अनुमान न हो।

लोकमणि ने बताया—"जिस रात विद्या निकाली गयी उसी रात हमारी एक गाय ब्याही थी। जेर गिरने की प्रतीक्षा में मेरी मां गोशाला में काफी रात तक बैठी रही। उसने बाहर रास्ते पर कुछ आहट-सी सुनी तो वह चौंक गयी। ध्यान से सुना तो लगा जैसे कोई चला आ रहा है। माँ दरवाजे पर आ गयी, लेकिन डर के कारण बाहर नहीं निकली। उसने देखा कि घुटी-घुटी हिचकियाँ भरती विद्या आ रही है। तभी उसे पीछे से उदयराम भी आता दिखाई दिया। दोनों गोशाला से लगे रास्ते पर आये तो माँ किवाड़ के पीछे छिप कर देखने लगी। उसे उदयराम का सम्बोधन सुनाई दिया—"भाभी !" विद्या रुक गयी थी। पास आकर उदयराम ने कहा—"भाभी ! मुझे माफ करना। मैं बहुत लज्जित हूँ। मेरा नाम न बताकर तुमने मुझ पर जो उपकार किया उसका बदला मैं सौ जन्मों में भी नहीं चुका सकता।' इसके उत्तर में विद्या ने केवल एक शब्द कहा—'नामर्द'। और जैसे उसने इस एक शब्द में ही अपना सब कुछ कह दिया था, वह आगे कुछ और कहने-सुनने के लिए रुकी नहीं। उदयराम खड़ा का खड़ा रहा और विद्या अँधेरे में गुम हो गयी।"

रामकृष्ण उत्तेजित हो कर बोला—"एक जन्म तो निभाया नहीं गया, सौ जन्मों की बात करता है, कायर कहीं का !"

बाहर की तरफ देखते हुए कैलाशपति ने कहा—"बातों ही बातों में समय का पता ही नहीं चला। खाने का समय हो गया, चलो, अब धार पर नहाने चलें।"

सबको उखड़ता देखकर लोकमणि ने कहा—"वाह, असली बात तो

तुम भूल ही गये। अभी तुमने चिट्ठी की बात पूरी कहाँ सुनी।" यह कह कर लोकमणि ने जेब से निकाल कर चिट्ठी दिखाई—"यह मेरे मामा के लड़के बृजमोहन का पत्र है। वह दौलतराम की ही स्कूल में मास्टर है। उसने लिखा है कि जब दौलतराम की इस दूसरी पत्नी से किसी ने पूछा कि उसने अपने पति को क्यों छोड़ दिया तो उसने साफ शब्दों में जवाब दिया—"वह पति था, पर मर्द नहीं।"

४ / मेहरबानी ! मदद ! माफी !

दूर हिमालय के एकदम भीतरी हिस्सों के लोग, जो अपनी संकुचित सीमाओं में ही असीम हैं, इतनी जानकारी तो रखते ही हैं कि दिल्ली एक बहुत बड़ा शहर है। इस जानकारी के साथ उनकी कल्पना, सरलता और भलमनसाहत जुड़ जाती है और फिर एक साकार स्वर्ग उनकी आँखों के सामने घूम जाता है। उन्हें भले ही यह न मालूम हो कि दिल्ली भारत की राजधानी है जो देश-विदेश के राजनीतिज्ञों और कूटनीतिज्ञों के दाँव-पेंच का अखाड़ा और साहित्यकारों की रंगभूमि है जिस पर अहम्मन्यता की भूमिका खेली जाती है, आत्म-प्रशंसा के सम्भाषण होते हैं और तू-तू मैं-मैं की चोंचें लड़ती हैं, पर यह अवश्य जानते हैं कि दिल्ली एक बहुत बड़ा बाजार है जहां तरह-तरह की सुन्दर चीजें, खाने पीने की वस्तुएँ बिकती हैं। खरीद न सकें तो देखने का सन्तोष तो वहाँ कदम-कदम पर बिखरा मिल ही जाता है।

उस पहाड़ी गाँव के नवयुवक भोला को छुट्टी पर आये मिलिट्री के हवलदार ने जब दिल्ली के विषय में कई आश्चर्यजनक बातें बतायीं और अन्त में यह कहा कि वहाँ काम की नहीं, करने वालों की कमी है तो भोला को कुछ दिल्ली के आकर्षण ने खींचा और कुछ उसके परिवार की गरीबी ने धकेला। वह एक दि मुहूर्त निकाल कर दिल्ली के लिए चल पड़ा।

गाँव से काफी दूर तक उसकी माँ और दो छोटी बहनें उसे पहुँचाने आयीं। पहाड़ की चोटी पर जहाँ से भोला को मंडी के रास्ते पर नीचे उतरना था, बरगद के पेड़ की छाया में मां ने उसे आंसू भरी विदाई दी। बहनों ने सुबकियां भरते हुए उसे 'सिवा' (चरण स्पर्श) लगाई। वह उतराई उतरने लगा तो पीछे से मां के प्यार भरे सम्बोधन उसे सहला रहे थे। उसकी आँखें डबडबा गई थीं। बहनों की हिचकियां सुनकर उस पहाड़ी मार्ग पर उसके अभ्यस्त कदम भी लड़-खड़ा गये थे।

वह दिल्ली पहुंचा तो उस विशाल नगर को, जिसके ओर-छोर का

कहीं पता नहीं था, देखकर भौंचक्का रह गया। उसे कुछ सूझ नहीं रहा था कि किधर जाये क्या करे ? चारों ओर के भीड़-भभ्भड़ और कोलाहल से उसका हृदय आतंकित हो उठा था। उसे अपने पहाड़ याद आये, जो घने जंगलों से ढके हैं और जहां हवा निःशंक सनसनाती रहती है। वे झरने याद आये, जिनके कल-कल, छल--छल की छाया में वह अपनी भेड़-बकरियाँ चराया करता था और घाटियाँ उसकी बाँसुरी की तान को दुहराया करती थीं। उसे अपना घर याद आया, जहाँ रात को काम से लौटकर वह अपनी माँ और बहनों के साथ चूल्हे के पास आग तापते हुए ढेर सारी बातें किया करता था। सोचते--सोचते उसमें एक उमंग सी उठती कि वह वापस लौट जाए और हवलदार से कह दे कि देख ली तेरी दिल्ली ! पर, अब उसके पास इतने पैसे नहीं थे कि अपनी इच्छा के अनुसार लौट पड़ता। फिर उसे यह अच्छा भी नहीं लगा था कि वह अब यों ही लौट जाए। गाँव के लोग उसकी मजाक उड़ायेंगे। एक-दूसरे को उसकी बात बता--बता कर हँसायेंगे। स्वयं उसकी मां को भी कितना दुख होगा। नहीं, अब वह यों ही वापस नहीं जायेगा।

वह सड़क के किनारे--किनारे सहमा--सहमा चलने लगा। शाम तक चलता ही रहा, पर कहीं कोई ऐसी सूरत नहीं दिखाई दी जिससे काम--धन्धे की कोई आशा बँधती। वह निश्चय कर चुका था कि जैसे ही उसके पास कुछ पैसे होंगे, वह गाँव चला जायेगा। वहाँ उसके अपने खेत हैं—जोतेगा, बोयेगा और आराम की जिन्दगी बितायेगा। पर पैसे..............?

वह एक होटल के सामने पहुँचा। देखा—तन्दूर की गरमागरम रोटियां निकल रही हैं। उसकी भूख चोटी पर पहुंचकर निढाल पड़ी थी कि रोटियाँ देखकर करवट बदल कर खड़ी हो गई। वह वहाँ रोटियों को देखता और प्याज के छौंक की खुशबू लेता हुआ खड़ा हो गया। उसने अपने गबरून के फटे--पुराने कोट की जेब में हाथ डाला। केवल अठन्नी

ही बची थी। उसे जेब में अन्दर ही अन्दर अँगुलियों से सहलाते हुए उसने होटल के मालिक सरदार जी से पूछा—"एक रोटी कितने की है ?"

सरदार जी ने भोला को सिर से पांव तक गौर से देखा। वह ताड़ गया कि लड़का काम का है। वह कई महीनों से एक नौकर की खोज में था और अब वह उसे अनायास मिलता दिखाई दे रहा था। वह बोला—"पैसे की क्या फिकर बादशाओ ! अपनी दुकान है, भरपेट खाओ।"

"नहीं, मेरे पास बस यही अठन्नी है।" भोला ने अठन्नी दिखाते हुए कहा।

"होटल में काम करोगे ?" उसकी मजबूरी समझकर सरदार ने एकदम प्रश्न उछाला था। "कोई ज्यादा काम नहीं है। सुबह--शाम भट्ठी सुलगाना, कप--प्लेट साफ करना और तनखा तीस रुपया ! खाना मुफ्त !"

भोला ने मन ही मन अपने भाग्य की सराहना की। हवलदार की बात की सचाई का उसे प्रमाण मिल गया था। उसे सरदार जी साक्षात् देवता के रूप में दिखाई दिये। उसने बड़ी दीनता से कहा—"सेठ जी, मैं आपकी इस मेहरबानी को जिन्दगी भर नहीं भूलूँगा।"

भोला तब तक सरदारों की पहिचान से अनजान था, इसीलिए तीस रूपये की नौकरी और खाना मुफ्त देने वाले सरदार जी को उसने 'सेठ जी' कहकर सम्बोधित किया था।

भोला सुबह से आधी रात तक काम में ही डूबा रहता। फर्श धोता, वर्तन--भांड़े माँजता और रह--रहकर गन्दे गीले कपड़े से जूठन-भरी मेज-कुर्सियां पोंछता। साफ-सफाई का सारा काम उसके ही जिम्मे था। सरदार जी की जबान में जो मिठास उसे पहले मिली थी, अब पता नहीं वह कहां चली गई थी। वह दिन भर भोला--भोला चिल्लाता रहता और

एक साथ दस-दस हुक्म देकर उसे घड़ी भर भी चैन न लेने देता।

लगातार पानी लगते रहने से भोला के हाथ--पांवों की अंगुलियों के बीच खुजली पैदा करने वाली सफेदी फैल गयी थी। पर, वह सब कुछ झेलता चल रहा था। उसके सामने वह तारीख थी जिस दिन वह महीने के तीस रुपये पायेगा और सरदार जी को राम-राम कहकर चला जायेगा अपने गाँव।

रात को सोते समय वह रोज ही अपनी माँ और वहिनों की याद करता और उसी याद की धारा में बहते-बहते सो जाता। उसे वह रात अक्सर याद आती जब चिमनी की मन्द रोशनी में उसकी माँ दुखभरी खुशी प्रकट कर रही थी कि कल उसका बेटा नौकरी करने दिल्ली जा रहा है। उसकी बड़ी वहिन ने कहा था—"भैजी, दिल्ली से मेरे लिए चूड़ी-चुटी लाना न भूलना।"

"जरूर लाऊंगा, सत्तो! भला तुझे भूल सकता हूं।" भोला ने भावावेश में कहा था।

"और मेरे लिए क्या लाओगे, भैजी?" छोटी वहिन ने पूछा था, जैसे उसे स्वयं न सूझा हो कि वह अपने लिए क्या मंगाये।

"तेरे लिये?" भोला सोचते हुए बोला था—"तेरे लिये खूब सारी मिठाई लाऊंगा.........इतनी।" उसने दोनों हाथ फैलाकर मिठाई की मात्रा बताई थी।

माँ ने गभीरता से कहा था—"बेटा, आते समय दो चार गुड़ की भेलियां जरूर लाना। सत्तो की शादी में जरूरत पड़ेगी।"

भोला उत्साहित होकर बोला था—"माँ, तू फिकर मत कर। भगवान ने चाहा तो सत्तो की शादी धूमधाम से करेंगे—गाँव भर को न्योता देंगे।"

महीना समाप्त हुआ तो सरदार जी ने भोला के हाथ में पच्चीस रूपये रखते हुए कहा—"तूने तीन कांच के गिलास, पाँच तश्तरियाँ और एक चायदानी

तोड़ी है। कीमत तो इनकी ज्यादा होती है पर मैंने केवल पाँच ही रुपये काटे हैं, जिससे आगे तू होशियारी से काम करे।"

भाला ने चुपचाप पच्चीस रुपये लिये और मौका देखकर स्टेशन की राह पकड़ी। स्टेशन पहुंचकर उसने कोट-पेंट पहने एक भले से आदमी से पूछा—"बाबू जी, टिकट कहाँ मिलता है ?"

उस आदमी ने उसे गौर से देखा। फिर कुछ समझ कर बोला—"लाओ भैया, मैं ले आता हूँ टिकट। इतनी भीड़ में तुम कहाँ धक्के खाओगे।" भोले ने दस रुपये दे दिये। उसे याद था कि दिल्ली आते समय उसे इतना ही किराया देना पड़ा था

वह आदमी सामने ही एक टिकट घर से टिकट ले आया। अपने हाथ में टिकट देखकर भोला कृतज्ञता से भर गया। वह समझ नही पाया कि उस आदमी को इस मदद के बदले में क्या कहे। उसने दोनों हाथ जोड़कर उस आदमी को नमस्ते की और उसी के बताने पर अपनी गाड़ी में जा बैठा।

गाड़ी में बैठा हुआ वह रास्ते भर अपने गाँव, अपनी माँ और अपनी बहिनों की कल्पना में डूबा रहा। अभी उसके पास पन्द्रह रुपये हैं। मंडी से अपनी बहिनों के लिए चूड़ी-चुंटी ले जायेगा। चने और इलायचीदाने भी रख लेगा। दो-चार भेलियाँ भी बाँध लेगा। कुछ पैसे भी बच जायेंगे। माँ को दे देगा। माँ कहेगी—"एक महीने में ही कितना कमाकर ले आया मेरा भोला।"

गाड़ी उस पहाड़ी स्टेशन पर रुकी तो भोला खुशी-खुशी गाड़ी से उतरा। वहीं के बाजार से वह झटपट सारा सामान लेकर अपने गाँव के लिए चल पड़ेगा। शाम तक गाँव पहुंच जायेगा। उसकी बहिनें उछलती हुई आकर उससे मिलेंगी। वह अपने थैले में से मीठी गोलियाँ निकाल कर उन्हें देगा और कहेगा—"तुम्हारे लिए चूड़ी-चुंटी भी लाया हूँ।" तभी उसकी माँ जंगल से लौट कर आयेगी और उससे लिपटकर खुशी के आँसू

बहायेगी ।

स्टेशन के गेट पर पहुंकर भोला ने टिकट दिया और गेट के बाहर होने ही वाला था कि उसे एक झटका सा लगा। टिकट कलक्टर ने पीछे से भोला का कालर पकड़कर खींचा था। भोला हैरान था कि यह क्यों हो रहा है। टिकट कलक्टर गुस्से में बोला—"क्यों बे, यहाँ भी दिल्ली के प्लेटफार्म-टिकट से निकलना चाहता है ? ला असली टिकट।"

भोला समझ ही नहीं सका कि वह क्या कह रहा है। वह बाबू को, उस टिकट को, जिसे बाबू ने उसके हाथ पर रख दिया था और बाहर निकलते मुसाफिरों को किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की स्थिति में टुकर-टुकर देखता खड़ा था। सब मुसाफिर निकल गये तो एकान्त देखकर बाबू ने उसे धमकाया—'अबे टिकट नहीं है तो निकाल दुगुना भाड़ा, वरना अभी पुलिस के हवाले करता हूं।"

भोला ने सारी बात बताई, पर बाबू विश्वास नहीं करना चाह रहा था। वह गिड़गिड़ाया, पर बाबू अपने कर्त्तव्य पर अडिग रहा। उसने भोला पर एक थप्पड़ जमाई—"निकाल बीस रुपये—डबल किराया। तेरे बाप की गाड़ी है।"

भोला गाल सहलाता हुआ रुआँसा होकर बोला—"मेरे पास इतने रुपये नहीं, बाबू जी! माफ कर दो।"

"माफ करने लगे तो चल चुकीं रेलगाड़ियाँ।" यह कहकर बाबू ने उसकी जेब में हाथ डालकर पन्द्रह रुपये निकाले और कहा—"जा भाग, पाँच रुपये माफ कर दिये।"

५ | चिरजीवी अश्वत्थामा

आज भी, जब कि अतीत के ढेर सारे चित्र धुल-पुंछ गये हैं, वह अपना विद्यालय मुझे साफ दिखाई देता है जहाँ मैंने संस्कृत की शिक्षा पायी थी। विद्यालय के नाम पर लाल मिट्टी से पुता वह दो कमरों का छोटा--सा पत्थरों से बना मकान पहाड़ की गोद में दुबके गांव से थोड़ा ऊपर की तरफ एक खुली-उभरी जगह पर स्थित था। वहाँ से हिमालय तक उठती चली गई पर्वत शृंखलाएँ, तलहटी में दूर तक फैली हरी--भरी घाटी और उसके बीच से बहती हुई, सूरज की रोशनी में दर्पण-सी चुंधियाती नदी की धारा, सामने के पहाड़ पर हवा में सनसनाता चीड़ का जंगल साफ दिखाई देता था। अब तो न वह विद्यालय रहा और न उसके एकमात्र संस्कृत-अध्यापक पंडित गौरीशंकर। उनके साथ ही संस्कृत विद्या भी उस इलाके से लुप्त हो गई। रह गया आलय-वह मकान, तो वह भी कुछ सालों तक आँधी-पानी सहता टिका रहा, अब वह भी खंडहर है। अभी हाल में एक बार उस गांव में जाने का मौका मिला तो अपने विद्यालय को खंडहर की हालत में देखकर मन को बड़ी चोट पहुंची। इधर-उधर बिखरे पत्थरों से ऐसा लगा, जैसे संस्कृत के श्लोक, जिन्हें वे वर्षों तक अपने अन्दर आत्मसात् करते रहे, अब बाहर निकलकर सस्वर रुदन कर रहे हों। उस खंडहर के ऊपर से गुजरती हुई सनसनाती हवा में मुझे कुछ ऐसी ही करुण अनुभूति हुई थी।

पंडित गौरीशंकर जी संस्कृत के विद्वान ही नहीं, बड़े अच्छे कवि भी थे--आशुकवि। उनका काव्य-पाठ इतना मधुर था कि सुनने वाले श्लोकों का अर्थ न समझते हुए भी आत्म--लीन हो जाते थे। हमारे पूरे पर्वतीय क्षेत्र में उनकी विद्वत्ता की ख्याति दूर--दूर तक फैली हुई थी। यही कारण था कि उस विद्यालय में दूर-दूर के विद्यार्थी आकर संस्कृत पढ़ते थे।

मुझे भीतर ही भीतर इसका दुख था कि पिता जी ने मेरे छोटे भाई सुरेश को तो अंग्रेजी स्कूल में भरती किया और मुझे वहां गाँव में संस्कृत पढ़ने के लिए डाल दिया, जिसकी आज कोई पूछ नहीं। अपने गांव

में केवल मैं ही था जो संस्कृत पढ़ रहा था या पढ़ने के लिए विवश था। शेष सभी लड़के मंडी के हाई-स्कूल में अंग्रेजी ही नहीं अन्य अनेक विषय पढ़ते थे। गर्मियों की छुट्टियों में जब सब गांव में इक्ट्ठा होते तो मेरा उनके साथ मेल नहीं बैठ पाता था। वे बड़े गर्व और उत्साह के साथ कहते कि वे इस कक्षा को पास कर उस कक्षा में पहुँच गये हैं। एक बार उन्होंने इसी संदर्भ में मुझे चुप देखकर पूछा था—"अरे दीनू तू भी तो बता कि तू कौन--सी क्लास में पढ़ता है ?" मैं भला क्या क्लास बताता। तब मैंने 'प्रथमा' भी नहीं किया था और 'प्रथमा' के पहले दो-तीन वर्ष तक कोई परीक्षा भी नहीं थी। जब उन्होंने फिर अपने प्रश्न को दुहराया था तो मैंने कहा था—"मैं सत्य नारायण की कथा पढ़ रहा हूं।" इस पर सबने मेरे इस जवाब का चुटकुला बनाकर गाँव भर के लोगों को हँसाया था। वे अक्सर मेरी चोटी खींचते और मुझे 'पंडित' न कहकर 'पंडत' कहते थे। वे अँग्रेजी में बातचीत का स्वाँग करते और आपस में हाथ मिला-मिलाकर हँसते। मुझे लगता जैसे उन्होंने मेरे बारे में ही कोई हंसी की बात कही है। मैं कुढ़कर रह जाता था। इस प्रकार मेरी संस्कृत-शिक्षा ने मुझे मेरे साथियों से अलग कर दिया था। मैं उनकी चुटकियों, उपेक्षा और परिहास से इतना दुखी और परेशान रहता था कि कई बार अकेले में जाकर बुरी तरह रोता था। जी चाहता था कि मैदानों की तरफ भाग जाऊं और किसी तरह हो, अंग्रेजी सीखूं। पर जब अपनी दुस्साहसहीनता और पिता जी के समझाने से अपने संस्कृत विद्यालय में पहुंच जाता तो वहाँ के वातावरण और पंडित जी के प्रभाव से यह विचार जोर पकड़ने लगता कि आज भले ही समाज में संस्कृत की प्रतिष्ठा न हो—उसकी आवश्यकता बहुत बड़ी है, पहले से भी अधिक। तब लोगों का मन इतना रुग्ण नहीं था, जितना आज है। पंडित जी ज्ञान-ध्यान की, नीति की, उपेदेशों की ऐसी प्रेरक बातें बताते कि संस्कृत के प्रति मेरी भावनाओं की उखड़ी जड़ें फिर अन्तर्प्रदेश

में गहरे–गहरे धँसने लगती । उनके श्लोकों के संगीतात्मक पाठ का सम्मोहन और उनके अर्थों की जीवनदायिनी शक्ति मेरे अधीर अशान्त मन को शान्ति के केन्द्र पर स्थिर कर देती। इस तरह मन ही मन अंग्रेजी शिक्षा से लड़ता हुआ मैं संस्कृत शिक्षा के सोपानों पर क्रमशः चढ़ता चला गया।

तब मैं शास्त्री की परीक्षा देकर गाँव आया हुआ था और सुरेश बी० ए० की परीक्षा देकर। शहरी सभ्यता और अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से वह बड़े ठाट–बाट के साथ रहता था। अंग्रेजी ढंग से कटे–छँटे, सुन्दर संवरे बाल, अच्छी-क्रीजदार पैंट और चमचम करते जूते। घर–बाहर उसे मान--सम्मान मिलता। मुझे इस बात का कोई दुख नहीं था। दुख तो इस बात का था कि छोटा भाई होते हुए भी सुरेश मुझे वह सम्मान नहीं देता था जो बड़े भाई को दिया जाना चाहिए। कह नहीं सकता कि इसका कारण क्या था ? हो सकता है, मेरा 'पंडत' होना कारण रहा हो। हो सकता है, अंग्रेजी शिक्षा नम्रता के स्थान पर दम्भ पैदा करती हो। कुछ भी हो, उसे मेरी चोटी नागिन की तरह डसती और मेरी धोती में उसे असभ्यता और गँवारुपन दिखाई देता। मैं यह सब समझकर भी कुछ न कहता और घर--बाहर बड़ा होते हुए भी छोटा बनकर रहता।

एक दिन की बात है। रात का समय था। गर्मी का मौसम होने पर भी बड़ी ठंड थी। पिता जी कमरे के एक कोने में धधकते अंगारों से भरी अंगीठी के पास बैठे आग ताप रहे थे। मैं भी ठंड से परेशान होकर वहीं एक ओर बैठा था। मुझे संस्कृत का पंडित समझकर पिताजी अक्सर मुझ से धर्म–कर्म की चर्चा छेड़ देते थे। उस दिन भी उन्होंने मुझे पास बैठा देखकर बातों के लिए धार्मिक विषय उठा लिया। मैं जानकारी के अनुसार उनके प्रश्नों और जिज्ञासाओं का समाधान कर रहा था कि तभी सुरेश बाहर से आया और पास ही एक ओर बैठ गया। हमारी धर्म-चर्चा

निर्बाध चलती रही। सुरेश चुपचाप बैठा सुनता रहा, पर उसके रंग--ढंग से मैं, बातें करते हुए भी यह महसूस कर रहा था कि उसे हमारी वह धर्म-चर्चा अरुचिकर लग रही थी। वह कभी बिना खाँसी के खाँस बैठता। अचानक किसी फिल्मी गाने की पंक्ति गुनगुना उठता। कुछ नहीं तोअँगीठी में सुलगी हुई आग को सुलगाने के लिए यों ही फूंक मार देता। उसे इस बात की कोई परवाह नहीं थी कि उसके फूंक मारने से राख उड़ कर हमारे ऊपर आ रही है। पिता जी अपने सीधे पन के कारण शायद उसकी उन हरकतों से बेखबर थे। बातों के क्रम में उन्होंने मुझ से पूछा—"क्यों बेटा दिनेश! क्या अश्वत्थामा सचमुच चिरजीवी है? कहते हैं कि भगवान कृष्ण ने मृत्यु से भयभीत और जीवन के लिए गिड़गिड़ाते हुए अश्वत्थामा के माथे की जन्मजात मणि निकाल दी थी और उसे हजारों वर्षों का दीर्घ जीवन देते हुए कहा था —जा तुझे ऐसा जीवन देता हूँ कि तू मौत चाहेगा और वह नहीं मिलेगी। तेरा यह माथे का घाव हमेशा हर घड़ी, हर पल रिसता रहेगा और जीवन का प्रत्येक क्षण तेरे लिए मौत से भी अधिक त्रासदायक होगा।"

मैंने कहा—"हाँ पिता जी! अश्वत्थामा ही नहीं उनके मामा कृपाचार्य भी जिरजीवी हैं।"

"यदि वे जीवित होते," पिता जी ने कहा, "तो वे कहीं न कहीं, किसी न किसी को तो दिखाई देते।"

"वे दिखाई दिये हैं, पिता जी!" मैंने कहा, "हमारे पंडित गौरीशंकर जी ने दोनों मामा-भानजे को प्रत्यक्ष देखा है।

यह सुनते ही, मैंने देखा कि पिताजी ही नहीं, सुरेश भी चौंक पड़ा। पूरी बात सुनने के लिए पिताजी की उत्सुकता प्रकट हुई—"पंडित जी ने उन्हें कहाँ देखा और कैसे पहिचाना कि वे अश्वत्थामा और कृपाचार्य ही थे? उन्होंने तुम्हें कुछ बताया हो तो सुनाओ।"

"तो सुनिये!" मैंने कहा। "एक रात की बात है पंडित जी

हम सब विद्यार्थियों के साथ बैठे थे। वे जब भी हमारे बीच बैठते, कोई न कोई रोचक बात अवश्य सुनाते थे। उनका कहने का ढंग ऐसा विचित्र और सजीव होता था कि हम मन्त्र-मुग्ध से तल्लीन हो जाते थे। उस रात हमने पंडित जी से अनुरोध किया कि आज वे जगबीती नहीं, आपबीती सुनाएँ। आपबीती का नाम सुनते ही वे क्षण भर कुछ सोचते से मौन रहे और फिर बोले— "अच्छी बात है। आज तुम्हें अपना एक ऐसा सम्मरण सुनाता हूं जो रोचक ही नहीं, अद्‌भुत भी है।"

हमने झटपट अपने बस्ते समेटे और बीच में जलती लालटेन के चारों ओर संस्मरण सुनने की उत्सुक मुद्रा में मंडलाकार बैठ गये। पंडित जी सुनाने लगे— 'वर्षों पहले की बात है। मैं यही कोई पच्चीस-तीस का रहा हूँगा, जब हम बदरीविशाल की यात्रा पर गये थे। हम यानी तुम्हारी गुरुमता और पद्मनाभ। जाते समय कोई विशेष बात नहीं हुई। घटना लौटते समय की है। बदरीनाथ से पैदल के रास्ते हम दूसरे दिन देवप्रयाग पहुंचे। उस समय सूरज पश्चिम की तरफ ढल चुका था और आसमान बिल्कुल साफ था। हमारा विचार रात होने के पहले ही देवप्रयाग से सात-आठ मील दूर अपने एक यजमान के गांव पहुंच जाने का था। इसलिए हमने झटपट गुड़-सत्तू खाया, पद्मनाभ को दुकान से लेकर दूध-मिठाई खिलाई और रास्ता पकड़ लिया।

'करीब चार मील पहुंचे होंगे कि अचानक हवा जोरों से चलने लगी। देखते ही देखते आकाश में काले घने बादल भुक आये। हम तेजी से चलने लगे, पर सामने की तेज हवा हमारी गति को रोक रही थी। कहीं किसी चट्टान के नीचे बैठ कर आँधी निकल जाने की प्रतीक्षा करते हैं तो रास्ते में ही रात पड़ जाने की आशंका थी। उस पर बारिश के आसार स्पष्ट थे। साथ में छोटा बच्चा पद्मनाभ और उसकी मां। शरीर के कष्ट झेलने में दोनों ही असमर्थ। ठहरें तो कैसे ठहरें और जायें तो कैसे जायें! तभी जोरों से वर्षा होने लगी—मूसलाधार। बड़ी

विकट समस्या थी। किन्तु हम उससे जूझते हुए चलते रहे, चलते रहे.........।'

मैं बीच में बोल पड़ा— 'इससे तो देव प्रयाग ही ठहर जाते पंडित जी तो अच्छा रहता।'

पंडित जी मुस्कराये— काम बिगड़ने पर आदमी ऐसा ही सोचता है कि अगर ऐसा करता तो यह न होता। उस विषम परिस्थिति में मैंने भी ऐसा ही सोचा था जैसा तुमने कहा। किन्तु अब सोचता हूँ कि यदि मैं उस दिन देवप्रयाग ही ठहर जाता तो जीवन के एक दुर्लभ संयोग, एक बहुत बड़े लाभ से वंचित ही रह जाता। होनी तो होकर रहती है। खैर, तो तुम्हारी गुरुमाता उस आंधी तूफान के विरोध में तेज चलने के कारण बहुत थक गई थी। पद्मनाभ तो मेरे कंधे पर था ही, उसकी गठरी भी मैंने ही सँभाल ली और अब उसे जल्दी-जल्दी चलने के लिए कहा। बेचारी कुछ दूर तक तो पूरी ताकत लगा कर चली, पर फिर निढ़ाल होकर एक शिला पर बैठ गई। सड़क पर पतनाले बहने लगे थे। दूर-दूर तक जंगल ही जंगल। और वातावरण से ऐसा लगता था कि बारिश अभी और जोर पकड़ेगी। बादलों की गड़गड़ाहट कह रही थी कि आज हम अजेय हैं। कोई पथिक एक कदम आगे नहीं बढ़ सकता। कंधे पर मेरे सिर से चिपक कर बैठा पद्मनाभ पानी की तेज बौछार की मार से रोने लगा था। मैंने उसकी माँ के पास जाकर कहा कि वह जगा और साहस बटोरें। थोड़ी दूर पर चट्टी है। यजमान के गांव तो इस हालत में पहुंचना मुश्किल है। आज की रात चट्टी में ही बितानी पड़ेगी। यह कह कर मैंने उसे सहारा देकर उठाया। किसी तरह राम-राम कहते चट्टी पर पहुंचे।

'चट्टी सूनी पड़ी थी। कमरे में धुएं से काले पड़े चूल्हे के पत्थर, अधजले कुन्दे और लकड़ियाँ, राख, धूल यानी की ढ़ेर सारा कूड़ा-कर्कट बिखरा पड़ा था। पद्मनाभ की माँ ने किसी तरह एक कोने में बैठने

लायक जगह बनाई। पद्मनाभ ठंड से काँप रहा था और माँ से रोटी की जिद करता हुआ ठिनक रहा था। मैंने झटपट इधर-उधर बिखरे पत्थर जोड़कर चूल्हा बनाया और उसमें लकड़ियां डालकर बड़ी कठिनाई से चकमक पत्थर से आग सुलगाई। पद्मनाभ को चूल्हे के पास बैठाकर खाने के लिए गुड़ की आखिरी डली दी और उसके कपड़े निकाल-निचोड़ कर आग की आँच में सुखाने लगा। आग जब जोर पकड़ गयी तो मैंने चूल्हे में एक ओर से लकड़ी का एक अधजला कुंदा भी लगा दिया। कपड़े दरी कम्बल सभी कुछ तो भीग गये थे। उन्हें भी एक-एक कर आंच में सुखाना था।

'यह सब करते-करते काफी समय बीत गया। बारिश में कोई अन्तर नहीं आया था। जंगल में उसकी सनसनाहट और पहाड़ी नालों का निनाद अखंड रूप से चल रहा था। रात का—बरसाती रात का घटाटोप अन्धकार चारों ओर फैला था। सोचा, सत्तू खाकर अब थोड़ा आराम कर लें। पानी में भीगने के कारण सत्तू लोंदा बन गया था। हमने वही खाया, पर पद्मनाभ रोटी के लिए जिद करने लगा। झुंझला कर उसकी माँ ने उसे गोदी से नीचे झटक दिया। बस फिर क्या था, उसने तूफान खड़ा कर दिया। मैंने उसे चुपाने के लिए उठाया और कमरे में इधर-उधर घुमाने लगा। सोचा इस तरह आराम मिलने से वह सो जायेगा और नींद उसकी भूख पर विस्मृति का पर्दा डाल देगी। घुमाने से वह चुप तो हो गया, पर सोया नहीं। मैं अपने आपको उस ऊब से मुक्त करने के लिए महाभारत के श्लोक गाने लगा। रात के उस निस्तब्ध एकान्त में गूंजती हुई मेरी ही आवाज मुझे रोमांचित करने लगी। मैं श्लोकों की भावधारा में कब तक बहता रहा, कुछ याद नहीं रहा। जब बाहर सहसा बारिश रुकी तो मेरा ध्यान टूटा। देखा, पद्मनाभ सो गया था। मैं उसे उसकी माँ के पास सुलाने के लिए झुका ही था कि उसकी नींद उचट गई और वह फिर रोने लगा। मैं फिर उसे घुमाते हुए श्लोक गाने लगा।

'तभी धीरे से कमरे का दरवाजा खुला। मैं चौंक गया। द्वार पर दो आदमी खड़े दिखाई दिये। एक लम्बा तगड़ा और दूसरा ठिगना। लम्बा तगड़ा आदमी जवान था और दूसरा बूढ़ा। बूढ़े की छाती पर लम्बी सफेद दाढ़ी लहरा रही थी। दोनों ही एक खास ढग से बंधी धोती, पगड़ी और गेरुए झब्बों में बड़े प्रभावशाली लग रहे थे। बाहर से आये थे पर भीगे नहीं थे। लम्बे आदमी ने द्वार पर खड़े-खड़े ही बुलन्द आवाज में पूछा—"यह बच्चा क्यों रो रहा है ?"

'मैं उनके इस सीधे प्रश्न के पहले यह जानना चाहता था कि आखिर वे हैं कौन और बच्चे के रोने से उन्हें क्या मतलब ? मैंने पद्मनाभ की मां की ओर मुड़ कर देखा। वह उठ बैठी थी और भय-विमूढ़ दृष्टि से उनकी ओर आंखें फाड़े देख रही थी। मैं कुछ पूछने को हुआ ही था कि लम्बा आदमी बोला—'डरिए नहीं ! हम भी यात्री हैं। इधर से निकल रहे थे तो आपके श्लोकों की स्वर-साधना ने हमें आकर्षित कर दिया। हम बाहर बरामदे में बड़ी देर से महाभारत के श्लोकों का शुद्ध संगीतात्मक पाठ सुनते खड़े थे। पहले सोचा कि आपके एकान्त में बाधा न डालें, पर बच्चे को लगातार रोते सुनकर हमसे नहीं रहा गया। द्वार खटखटाने से आप ज्यादा घबरा सकते थे। अनिश्चय में अधिक घबराहट जो होती है। अपने जैसे आदमियों को देख कर आप क्षण भर में ही अपने को संभाल लेंगे—यह सोच कर हम बिना पूछे अन्दर आ गये। मैं समझ रहा हूं कि अब आप संशय-मुक्त हैं। आपने बताया नहीं, बालक क्यों रो रहा है ? किसी रोग से पीड़ित तो नहीं ?

'नहीं, उसे भूख लगी है।' मैंने कहा 'रोटी मांग रहा है। आप ही बताइए, यहाँ इसके लिए रोटी कहां से लाय ? वर्षा में विवश होकर ही हमें यहाँ शरण लेनी पड़ी है।'

बूढ़ा आदमी पहली बार बोला—'यह लीजिए रोटी।'

और उसने कंधे से लटकती झोली में से रोटियों की पोटली निकाल कर मेरी ओर बढ़ाते हुए कहा "आप लोग भी भूखे होंगे।"

मुझे हिचकते देख कर लम्बे आदमी ने पूछा—"क्या आप ब्राह्मण हैं ?"

मेरे स्वीकार करने पर वह बोला—"आप तो महाभारत के अच्छे ज्ञाता लगते हैं, फिर आप कर्म के ब्राह्मणत्व से जन्म के ब्राह्मणत्व को क्यों महत्व देते हैं ! जो कर्म से ब्राह्मण है वह मानव–मात्र के प्रति समान भाव रखता है। पर आपका भी क्या दोष ! समय और समाज ही ऐसा है कि लोगों को छुआ-छूत का विचार रखना पड़ता है। आपकी हिचक दूर करने के लिए मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि हम भी ब्राह्मण हैं।"

'सचमुच मैं इसीलिये झिझक रहा था कि पता नहीं कौन जाति के हैं। उनकी वाणी में सच्चाई की झलक पाकर मैंने पोटली लेते हुए कहा–"मैं आप लोगों को अचानक दरवाजे पर देख कर कुछ ऐसी संभ्रम-पूर्ण मनस्थिति में आ गया कि आप लोगों से अन्दर आकर बैठने तक के लिए न कह सका। आप तब से वहीं खड़े हैं ! आइए, बैठिए।"

"नहीं, अब हम चलते हैं।" लम्बा आदमी ही बोला।

"इस अँधेरी बरसाती रात में कहां जायेंगे !" मैंने कहा।

लम्बा आदमी ठहाका मार कर हंसा। विचित्र ठहाका। जिसमें हृदय-कमल का विकास नहीं, म्लानता प्रकट हुई थी। उसका वह हँसना ऐसा लगा जैसे उसके अन्दर का कोई दर्द हँसा हो। फिर वह खोया–खोया सा गंभीर स्वर में बोला–"हमारे लिए क्या रात, क्या दिन ! क्या बरसात, क्या धूप ! हमें तो बस चलते ही रहना है।" यह कह कर उसने वृद्ध से कहा—"मामा, अब चलना चाहिए।" और मामा तो जैसे पहले से ही तैयार था, वह बाहर जाने के लिए मुड़ा। मैं हड़बड़ाकर बोला—"जरा ठहरिये तो।" दोनों ने रुक कर मेरी तरफ प्रश्नात्मक दृष्टि डाली। मैंने कहा—"यदि आप लोगों को यहाँ रात्रि-विश्राम का मेरा हार्दिक अनुरोध

स्वीकार नहीं तो कृपा करके अपना परिचय तो दे दें ?"

वृद्ध ने लम्बे आदमी की तरफ प्रश्न-सूचक दृष्टि डाली। फिर लम्बा आदमी कुछ सोचता हुआ सा बोला—"परिचय जानकर क्या करोगे! बस यही परिचय है कि हम यात्री हैं–सदियों के यात्री। कभी हम भी कहीं के थे, अब हम कहीं के नहीं।" मैं अनुभव कर रहा था कि वे जाने की जल्दी में हैं इस लिए मैंने उसकी बात समाप्त होते ही एक दम प्रश्न उछाल दिया था—"कभी आप कहाँ के थे ?"

लम्बा आदमी क्षण भर चुप रहा, जैसे सोच रहा था कि उसे क्या कहना चाहिये। फिर बोला—"जब तुम जानना ही चाहते हो तो यह समझ लो कि हम महाभारत युद्ध के अभिशाप हैं।"

यह कह कर वे दोनों मुड़े और इसके पहले कि मैं झटपट दरवाजे तक जाऊं, वे दोनों जंगल के अंधेरे में खो गये थे।'

पंडित जी का संस्मरण समाप्त हुआ जान कर मैंने पूछा—'पंडित जी, आपने कुछ अनुमान लगाया कि महाभारत–युद्ध के साथ अपना सम्बन्ध बताने वाले वे कौन हो सकते हैं ?'

पंडित जी बोले—'उनके चले जाने के बाद मैं उस रात एक झपकी भी नहीं ले सका। जो-जो बातें उनके साथ हुई उनका सम्बन्ध-सूत्र खोजता रहा। महाभारत के वर्णन के आधार पर भी उन्हें पहिचानने की कोशिश की। बड़े ऊहापोह और विचार-मंथन के बाद मेरा यह निष्कर्ष बना कि लम्बे डील-डौल और बुलन्द आवाज वाला आदमी अश्वत्थामा और सफेद दाढ़ी वाला ठिगना आदमी उसका मामा कृपाचार्य था। महाभारत में व्यास जी ने उनके आकार-प्रकार का जैसा वर्णन किया है, उससे वे बिल्कुल मिलते-जुलते थे।

पिताजी को मैंने यह घटना सुनाई ही थी कि सुरेश बोल पड़ा—"वाह पंडित गौरीशंकर जी! तुम्हारा भी जवाब नहीं। क्या गप्प मारी! हमारा प्रोफेसर हमें ऐसी बात सुनाता तो हम उसे कुर्सी सहित उठाकर

क्लास से बाहर फेंक देते ।"

"सुरेश !" मैं क्रोध से चिल्ला उठा था, "मैं अपने गुरु के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं सुन सकता। तुम्हें मेरी श्रद्धा पर ऐसा मर्मच्छेदी प्रहार करने का कोई अधिकार नहीं।"

पिता जी समझ नहीं पा रहे थे कि अचानक हमें यह क्या हो गया। वे भौंचक्के से कभी मुझे और कभी सुरेश को देख रहे थे। सुरेश ने उनका समर्थन पाने के लिए उनको सम्बोधित कर कहा—"देखो न पिता जी ! क्या पंडित जी ने संस्मरण के नाम पर कोरी गप्प नहीं मारी ? क्या आज का वैज्ञानिक युग इस बात पर विश्वास कर सकता है कि कोई आदमी हजारों वर्षों से जीवित है और उसके शरीर में कोई शिकन, कोई शिथिलता नहीं और मौत उससे कन्नी काटती फिर रही है ? क्या पंडित गौरीशंकर जी को यह शोभा देता है कि वे अपने शिष्यों को अन्धविश्वासों के मायाजाल में उलझाएं ?"

मेरा क्रोध चरम सीमा पर पहुंच गया था। मुझे उत्तेजना में थर-थर कांपता देख कर पिता जी ने मेरी पीठ पर हाथ फेरते हुए स्नेह-पूर्ण स्वर में कहा—"बेटा दिनेश, अपने छोटे भाई का कहा मन में न लाओ। यह उसका नहीं उसकी शिक्षा का दोष है। तुम्हारी शिक्षा ने तुम्हें गुरुजनों का आदर करना सिखाया है। उसके मूल में हमारी आध्यात्मिक संस्कृति की जीवनदायिनी अन्तःसलिला प्रवाहित है जिससे वह अनुप्राणित होती है। अंग्रेजी शिक्षा, जैसा कि मैं अब समझने लगा हूँ, न हमें अपने देश का ही रहने देती है और न इंगलिस्तान का ही बना पाती है। इसने हमारी स्थिति त्रिशंकु की-सी बना दी है, देश को अधर में लटका दिया है। इसने हमारे अपनेपन को उजाड़ कर हमारे आत्म-गौरव को समाप्त कर दिया है। यह हमारे अहं को बढ़ाती और धन का सर्वाधिक महत्व देना सिखाती है। यह हमारी राष्ट्रीयता की दीमक है जो इसकी जड़ों की पकड़ को ढ़ीली करती जा रही है। तुम इस अंग्रेजी शिक्षा के बिना भले ही बड़े अफसर न बन सको और भले ही तुम्हें

समाज में संभ्रमपूर्ण सम्मान न मिलें, पर तुम्हारी शिक्षा ने तुम्हारे अन्दर उन तत्त्वों का निर्माण किया है जो जीवन को विषम से विषम परिस्थितियों में भी टूटने नहीं देते। तुम्हारी शिक्षा जीवन के लिए है और सुरेश की जगत के लिए। जगत की क्रिया-प्रतिक्रिया का केन्द्र आखिर जीवन ही तो है। वह अगर श्रद्धा-विश्वास-हीन है तो निश्चित ही जगत के प्रहारों से कुंठित और जर्जर हो जायेगा।

"अब रही कहानी की झूठी-सच्ची होने की बात, तो बेटा सुरेश, हर बात की सत्यता-असत्यता की जांच की कसौटी एक मात्र विज्ञान ही नहीं है। विज्ञान न अभी पूर्ण है और न कभी पूर्ण होगा। वह सत्य के अनन्त अन्वेषण के मार्ग पर है। अभी सत्य उससे अनन्त दूरी पर हैं। पिछले युग के वैज्ञानिक सत्य को इस युग की वैज्ञानिक उपलब्धियाँ असत्य सिद्ध कर रही है और जो आज असत्य लग रहा है, हो सकता है, खोज करने पर उसकी सत्यता भविष्य के गर्भ में मिले। इसके अतिरिक्त यदि तुम्हें उक्त संस्मरण वैज्ञानिक दृष्टि से झूठा लगा है तो भावात्मक दृष्टि से देखने पर उसमें आनन्द का सत्य पा सकते हो। एक तरफ से झूठी लगने वाली वस्तु दूसरी दृष्टि से सत्य भी हो सकती है। हमारी दृष्टि झूठ की तरफ नहीं, सत्य की तरफ रहनी चाहिए। तुम अपने प्रोफेसर को कुर्सी सहित उठा कर बाहर फेंक सकते हो, पर क्या इस तरह झूठ का विरोध कर तुम झूठ का ही आश्रय नहीं लोगे?"

पिता जी के इस समाधान से मुझे बड़ी सान्त्वना मिली। अपनी शिक्षा के प्रति मेरी हीनता की भावना किरणों के स्पर्श से ओस की बूँदों की भाँति तिरोहित हो गई।

सुरेश तुनक कर उठता हुआ बोला—"आप तो पिता जी, हमेशा बड़े भैया का ही पक्ष लेते हैं?"

पिता जी हंसे, जैसे सुरेश से कह रहे हों कि तुम फिर सच्चाई को छोड़ कर झूठ का पक्ष ले रहे हो।

६ बरसात की एक रात

दूकान के अन्दर तक पसरी धूप सहसा गायब हुई तो भट्टी के पास बैठी रुक्मणी की दृष्टि पश्चिम आकाश की ओर उठ गई : पहाड़ों के पीछे से घने काले बादल उमड़ते चले आ रहे थे और पूरी घाटी में सूरज डूबने के पहले ही उतरती रात का--सा अंधेरा भर गया था। देखते ही देखते हवा भी जोर पकड़ गयी : सड़क पर उड़ती धूल के साथ चीड़--देवदार के सूखे पत्ते खड़खड़ाते दौड़ने लगे।

उसने दूकान बन्द की और अन्दर दूसरे कमरे में चली गयी।

उसकी यह दूकान बदरीनाथ की यात्रा–लाइन पर आठ–दस मील के बीच एक मात्र चाय–पानी की दूकान थी। आते–जाते यात्री वहाँ आकर दूकान से लगे आम के पेड़ के नीचे छाया में सुस्ताते, कनस्तरों में भरा पानी लेकर पीते, चाय पकौड़ी खाते और बीडी--सिगरेट का धुआँ छोड़ते सपाटे से मंजिल की ओर चल पड़ते।

वह लालटेन जलाकर चुल्हा सुलगाने बैठी ही थी कि बाहर आंधी की सनसनाहट चीड़–देवदार के जगल में भयंकर हो उठी। उसने बादलों की गड़गड़ाहट अपने सिर पर महसूस की और फिर सुना कि वह गड़गड़ाहट धीमी होती हुई पहाड़ के उस पार कहीं चली गई। बिजली की क्षण स्थायी कौंध ने बन्द खिड़की की सन्ध से उसे झाँका। एक सिहरन सी फैल गयी थी उसमें। तेज हवा दूकान के दरवाजे पर थपेड़े मार रही थी और बरसा की बौछार मकान की ढलवां छतों पर ताबड़तोड़ नाच रही था। बाहर के उस प्रचंड आँधी तूफान के भयावह अहसास के साथ वह खाना बनाने पर लगी हुई थी।

तभीं उसे ऐसा लगा जैसे बाहर से कोई द्वार की साँकल बजा रहा है। सांस रोककर सुनने लगी कि कहीं उसका भ्रम न हो। सचमुच ही कोई जोर–जोर से साँकल पीट रहा था। यह सोचकर कि शायद कोई आँधी–पानी का मारा यात्री आश्रय खोजता आया है, वह द्वार खोलने के लिए उठीं, पर फिर ठिठक गई। कहीं कोई चोर–उचक्का हुआ तो ?

द्वार पर धक्के लग रहे थे। विवश सी उसने लालटेन उठाई और द्वार के पास पहुंची। तभी बाहर से आवाज आयी—"भई, कोई है! दरवाजा तो खोलो।"

उसने अन्दर से पूछा–"कौन है?" तो बरसा की बौछार से भरे मुंह से सड़बड़ाता उत्तर आया—"यात्री"।

दूकानदारी करते हुए वह अब तक खूब जान चुकी थी कि यात्रा खुलने पर यात्रियों के साथ लुच्चे-लफंगों की भी एक खासी भीड़ इस लाइन पर निकल पड़ती है। इसलिए सावधानी बरतते हुए उसने कहा—"गाँव में चले जाओ। दूकान की दाईं ओर से रास्ता गया है। यही कोई दस पन्द्रह खेत ऊपर है।"

"दीदी!" अन्दर से स्त्री-स्वर सुनकर यात्री का सम्बोधन बदल गया था, "बरसा थम जायेगी तो गाँव का रास्ता भी खोज लूँगा। तुम क्या जानो कि बाहर सड़क नदी बनी हुई है।"

और उसे अपनी आशंकाओं के बावजूद द्वार खोलना पड़ा था। यात्री अन्दर आया—पानी से तर-बतर। हवा का एक तेज झौंका भी उसके साथ अन्दर लपका। लालटेन की लौ बुझने की सीमा तक काँप गई। यात्री ने यों ही औपचारिकता-सी निभाते हुए 'राम-राम' कहा और झटपट द्वार उढ़क दिया। फिर एक झेंप भरी मुस्कान के साथ बोला—"अगर यहाँ दूकान न होती दीदी, तो आज बचना मुश्किल था। ओह! ऐसी बारिश मैंने कभी नहीं देखी।"

वह यात्री को देखते ही समझ गई थी कि वह देसी नहीं, पहाड़ी है, एक साधारण देहाती—अधेड़ उम्र का, खिचड़ी मूछें, गबरुन के पाजामे पर मलेशिया की कमीज, उस पर खादी की जवाहर-बंडी और सिर पर दुपल्ली टोपी। उसे गीले कपड़ों में काँपता देखकर वह अन्दर से बाँह भर लकड़ियाँ ले आयीं। भट्टी के पास उन्हें डालते हुये बोली—"राख गरम है, सुलगा लो। कपड़े भी सूख जायेंगे।" फिर पूछा—"किस गाँव के हो?"

"मनारी का।" यात्री ने लकड़ी से राख कुरेदते हुए कहा।

"क्या कहा, मनारी!" अनायास व्यक्त हो गये अपने विस्मय के भाव का अनुभव कर रुक्मणी अपनी असावधानता पर सकुंचा--सी गयी थी।

यात्री ने उसकी ओर प्रश्नात्मक दृष्टि डालकर पूछा—"इसमें आश्चर्य की क्या बात है, दीदी!"

प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व रुक्मणी ने पूछा—"आप बदरीनाथ ही तो जा रहे है न ?"

"हाँ।" यात्री की स्वीकारोक्ति में प्रश्न छिपा था—"तो फिर ?"

रुक्मणी ने बात वनायी—"आपकी तरफ के लोगों के लिए तो यह रास्ता वड़े फेर का है। वदरीनाथ जाना था तो श्रीनगर के रास्ते से जाते।"

यात्री की उत्सुकता का जैसे समाधान हो गया था, वह सहज होकर बोला—"इधर दुगड्डा मंडी में कुछ काम था, सो इधर से ही यात्रा पर निकल गया हूँ।"

तभी बाहर बिजली कड़की। रुक्मणी चौंक उठी—"बाप रे बाप! बारिश ने तो गजब ढ़ा रखा है। और ठंड ऐसी जैसे सर्दी का मौसम हो। चाय बना लाती हूँ।"

चूल्हे पर चाय की केतली चढ़ाकर रुक्मणी सोच रही थी कि आखिर मनारी गाँव का वह आदमी कौन है ? पच्चीस वर्ष पुरानी अपनी स्मृतियों के सहारे वह उस अधेड़ उम्र के यात्री के आकार-प्रकार में उसके युवा रूप की कोई कल्पना नहीं कर पा रही थी। उसे यह भी ख्याल आया कि कहीं यात्री उसे पहिचान न गया हो। ऊँह, पहचान भी गया हो तो वह कौन से बुरे रास्ते पर है। दुकानदारी कोई पाप तो नहीं। जब वह अपने आप में सही है तो समझती रहे उसे दुनियाँ गलत। अब उसका गाँव से सम्बन्ध ही क्या रह गया है।

केतली की टोंटी से फक्-फक करती हुई भाप के साथ पानी बाहर उछला तो उसका ध्यान टूटा। उसने झटपट चाय तैयार की और केतली और गिलास लेकर बाहर कमरे मे आ गयी। यात्री के सामने गिलास रखकर कतली से चाय भरने लगी तो यात्री बोला–"क्यों कष्ट किया, दीदी ?"

"कष्ट कैसा", रुक्मणी बोली, "दिन भर सैकड़ों गिलास चाय बनाती हूँ, एक और सही।" फिर उसे ऐसा लगा जैसे वह कुछ गलत बोल गयी है, उसने स्वयं को सुधारते हुए कहा—"लेकिन आप इसे दुकान की नहीं, घर की चाय समझें।"

यात्री ने टोपी में चाय का गिलास लपेटते हुए कहा—"अकेली दिखाई देती हो। क्या साथ में कोई नहीं ?"

"नहीं !"

"पति ?"

"नहीं रहे।"

"बच्चे ?"

"हुए नहीं।"

थोड़ी देर दोनों के बीच चुप्पी झूलती रही। केवल चाय पीने की सुड़-सुड़ आवाज। फिर रुक्मणी ने पूछा—"जाति क्या है ?"

यात्री अपने ब्राह्मणत्व की गरिमा के साथ बोला—"जुयाल हूँ-पातीराम जुयाल।" अपनी जाति के साथ उसने अपना नाम भी इस ढंग से बताया था जैसे उसका नाम काफी प्रसिद्ध हो।

मनारी गाँव और जाति के साथ यात्री के नाम की सामूहिक प्रतिक्रिया से रुक्मणी को लगा जैसे वह चक्कर खाकर गिर जायेगी। वह वहाँ खड़ी न रह सकी तेजी से अन्दर के कमरे मे चली गयी। पातीराम को उसका यों अचानक बातों का क्रम तोड़कर चला जाना अजीब सा लगा, पर उसने इसे कोई महत्त्व नहीं दिया।

रुक्मणी अन्दर चारपाई पर बैठी हाँफ रही थी जैसे कही दूर से

भागती हुई आई हो । बाहर वर्षा हाहाकार करती हुई पछाड़ खा रही थी। उसे ऐसा लग रहा था जैसे वह बरसाती अँधेरी रात उसके अपने ही जीवन का प्रतिरूप हो । बरसों से निश्चल पडी उसकी धरती के नीचे भूकम्प की–सी गड़गड़ाहट फैल गई थी । उसके अब तक के एकाकी जीवन की सम्पूर्ण घुटन, समस्त कुँठाएं जैसे एक साथ अपने प्रचंड वेग के साथ फूट पड़ना चाह रही थी । वह कितनी देर तक भावों की उन उद्दाम लहरों में डूबती–उतराती रही, उसे इसकी कोई सुध नहीं थी । जब तूफान शान्त हुआ तो उसने स्वयं को एक शान्त सुखद किनारे पर पड़ी पाया ।

पातीराम की असुविधा का ध्यान आते ही उसने बाहर आकर एक ओर खड़ी चारपाई बिछायी । काठ के बड़े सन्दूक से बिछावन निकालकर बिस्तर लगाया । फिर रजाई निकालकर पायताने रखती हुई बोली—"अब तो कपड़े भी बहुत कुछ सूख गये हैं । यहाँ रजाई ओढ़कर आराम से बैठ जाएँ । खाना भी बस तैयार--सा है ।"

पातीराम मन ही मन क्रमशः बढ़ते उस आदर–सत्कार का मतलब समझने की कोशिश कर रहा था । वह रुक्मणी को लेकर सोच रहा था कि कहाँ तो वह पहले द्वार ही नहीं खोल रही थी, बाहर से ही गाँव का रास्ता दिखा रही थी और कहाँ अब उसके लिए बिस्तर भी लगा दिया है और खाना भी बन रहा है। रुक्मणी के व्यवहार में उस बढ़ती हुई अपनत्व की भावना ने उसे शंकित--सा कर दिया था । उसने आग के सामने फैलायी अपनी बंडी मुट्ठी में भींचकर देखी—बहुत कुछ सूख गई थी । वह खड़ा हो गया । बुंडी पहनी, सिर पर टोपी डाली और कंधे से गठरी लटकाते हुए बोला—"दीदी ! मेरे खाने–सोने की चिन्ता न करो । बारिश कुछ थम गयी--सी लगती है । ऊपर गाँव में जा रहा हूँ ।"

रुक्मणी ने स्वयं पर नियन्त्रण रखते हुए सहज स्वर में कहा—"रात बहुत हो गयी है । अब तो सारा गाँव द्वार बन्द कर गहरी नींद में पहुँच

चुका होगा। खा-पीकर आराम करें। सुबह जहाँ जाना हो, चले जाएँ।"

पातीराम अब तक द्वार खोल चुका था। बाहर देखा-बिजली की कौंध में वृक्ष झूम रहे थे और मूसलाधार पानी बरस रहा था। वह पहले भी मन ही मन जान रहा था कि अभी बारिश में कोई कमी नहीं, फिर भी उसने निर्णय किया था कि जरा भी जाने लायक स्थिति होगी तो उसका चला जाना ही अच्छा रहेगा। पर बाहर के भयावह बरसाती दृश्य को देखकर उसका निश्चय जवाब दे गया। वह द्वार बन्द कर विवश-सा चारपाई पर आकर बैठ गया।

थोड़ी देर बाद खाना आया। रुक्मणी खाना परोसकर वहीं एक ओर बैठ गयी। पातीराम उसकी उपस्थिति में बड़ा संकोच अनुभव कर रहा था। खाना खाते हुए वह स्वयं पर उसकी एकटक निगाह महसूस कर रहा था। आतिथ्य-सत्कार के इस रूप को वह पसन्द नहीं कर पा रहा था। उसका ग्रामीण संस्कारी मन सोच रहा था कि वह कैसी औरत है जिसे पर--पुरुष को इस तरह खाना खिलाते हुए जरा भी संकोच नहीं!

रुक्मणी रोटी देने लगी तो उसने हड़बड़ाकर थाली पर दोनों हाथ फैला दिये। रुक्मणी ने आग्रह पूर्वक कहा-"यह रोटी तो लेनी ही पड़ेगी।" और उसने रोटी थाली मे सरका दी। पातीराम मन ही मन झुंझलाकर भी चुप रह गया था।

भोजन के बाद पातीराम लेटते ही गहरी नींद में डूब गया। उसके खर्राटे की आवाज भीतर रुक्मणी तक पहुंच रही थी। अपनी चारपाई पर बेचैन लेटी हुई रुक्मणी को ऐसा लग रहा था जैसे वह आवाज बिल्कुल उसके कानों के पास ही उठ रही है। एक काल्पनिक सुख से वह रोमाँचित हो गई। उसने उस आवाज की दिशा में करवट बदली और फिर अपने वर्तमान को सोचते--सोचते वह अतीत की यादों में खो गई।

उसे अपना मायका याद आया तो एक विरक्ति, एक वितृष्णा से

उसका मन भर गया। तब वह एक अबोध बालिका ही थी जब उसके माँ-बाप दोनों चल बसे थे। फिर उसके चाचा-चाची ने उसे इस तरह पाला था जैसे रसोईघर की देहली पर सिर रख कर बैठी हुई कुतिया के सामने रोटी का एक टुकड़ा डाल कर दुत्कार देते हैं। बारहवें वर्ष में ही चल रही थी कि चाचा-चाची ने उस बबाल से जल्दी छुटकारा पाने के लिये उसकी शादी जोड़ दी थी। शादी के बाद दो वर्ष तक उन्होंने सामाजिक रिवाज से विवश होकर गले पड़ी उसे किसी तरह अपने साथ और झेला। ससुराल के लिये विदाई का दिन आया तो चाची ने उसे सोने के कुण्डल पहिनाते हुए बड़ा स्नेह-सा दिखा कर कहा था—"बेटी! हमारी हालत तुझसे छिपी नहीं। ये भी, हम ही जानते हैं कि किस तरह बनाये हैं।"

रुक्मणि को मालूम था कि उसकी माँ के खूब सारे जेवर चाची के कब्जे में हैं। ये कर्ण-कुण्डल उसकी माँ के ही हैं। बड़े आये बनाने वाले। केवल कर्ण-कुण्डल देकर अपनी उदारता बघार रहे हैं। अब कल गाँव भर में यह कहते फिरेंगे कि उन्होंने उसकी माँ के सारे जेवर उसके ही साथ बाँध दिये हैं।

और विदा के समय चाची की वह बात काँटे-सी कसक गयी। बोली थी—"बेटी! अब ससुराल ही तेरा सब कुछ है। अच्छी बेटियां ब्याह के बाद मायके की तरफ मुड़ कर भी नहीं देखतीं।"

वह समझ गई थी कि चाची अच्छी बेटियों के आदर्श की आड़ लेकर उसे सदा के लिए विदाई दे रही है। वह स्वयं भी निश्चय कर चुकी थी कि अब वह मायके कभी नहीं आयेगी। मायका माँ का होता है। जब माँ ही नहीं तो कैसा मायका।

पर, उसे तब क्या मालूम था कि वह चूल्हे से निकल कर भाड़ में गिरने जा रही है। ससुराल में सास ऐसी मिली कि चाची के भी कान काटने वाली। नेपाली मिर्च से तीखी और जंगली ततैया से भी जहरीली।

अपने दुर्भाग्य के उस दूसरे विकट रूप के सामने यह सोच कर कि अब इससे मुक्ति की कोई राह नहीं, उसने घुटने टेक दिये थे।

उसके ससुराल आने के पहले ही उसका पति बरमा की लड़ाई में जा चुका था। जिसका सहारा रहता वह भी साथ नहीं। दो वर्ष पूर्व विवाह के दिन उस द्वादशवर्षीया बालिका ने अपने पति को देखा भी था या नहीं, उसे कुछ याद नहीं था। तब पति को देखने की कोई उत्सुकता, कोई ललक भी तो नहीं थी उसमें। अनचाहे-अनजाने उसे तब पति की कोई झलक मिली भी हो तो स्मृतियों में उसका कोई रूप शेष नहीं था। अब, जब उसके मन में पति के लिये मधुर-मधुर सपनों के अंकुर फूटने लगे थे और उसे अकेलापन कुछ कुछ कुरेदने लगा था, उसका पति फौज में भरती होकर लाम पर जा चुका था। घर में केवल सास थी और था उसका निर्मम, क्रूर, अखण्ड शासन।

जरा भी तो माया-ममता नहीं थी उसकी सास में। उसे वह घटना याद आयी, जब वह बुरी तरह बुखार में तप रही थी। जोड़-जोड़ टूट रहा था। बुखार में दो दिन हो गये थे, पर सास एक बार भी यह पूछने नहीं आयी कि बहू, अब तबीयत कैसी है ? गाँव के वैद्य से दवा की पुड़िया लाने की बात तो दूर, पानी के लिए भी नहीं पूछा था। जब तक उसमें थोड़ी बहुत सामर्थ्य रही वह सीढ़ियाँ उतर कर रसोई घर से पानी पी कर आती रही। साथ में आगे के लिए लोटा भर पानी भी ले आती थी। पर बुखार में इतनी प्यास लगती थी कि थोड़ी देर में ही लोटा खाली। उस रात कब से उसका कंठ प्यास से सूख रहा था। सास पास ही चारपाई पर खर्राटे भर रही थी। उसने एक दो बार उठने की कोशिश की, पर कमजोरी से पैर थरथरा गये। वह चारपाई पर गिर पड़ी। समय बीतता गया और प्यास के मारे उसे ऐसा लग रहा था कि बस प्राण निकले। वह किसी तरह उठी। फिर बैठे-बैठे खिसकती हुई सीढ़ियाँ उतर कर रसोई घर में पहुंची और कसोरी पर

रखी पानी-भरी पतीली पर मुँह लगा कर सारा पानी पी गई थी। फिर निढाल हो कर वहीं जमीन पर लुढ़क गई थी। सुबह की ठंडी-ठंडी हवा चली तो उसे कुछ होश आया। सास उसे वहां पड़ी देख कर डाँटेगी, इस डर से वह फिर बड़ी मुश्किल से अपने कमरे में पहुंच पाई थी। सास के खर्राटे बदस्तूर बने हुए थे।

सुबह हुई तो सास ने उसके पास आकर कहा था—"बहू! ये सब नखरे मेरे साथ नहीं चलेंगे। दो दिन हो गये सहते हुए। घर-बाहर के सारे काम देखते मेरी कमर टूट गई और खुद रानी बन कर पसरी है चारपाई पर। उठ।"

वह चारपाई से उठते ही धड़ाम से जमीन पर गिर पड़ी थी। फिर क्या हुआ उसे कुछ मालूम नहीं। बाद में उसे पता चला था कि गाँव की औरतों के कहने पर सास ने वैद्य को बुलाया था और बेहोशी में ही उसके हलक के नीचे दवाई उतारी गई थी।

फिर एक दूसरी घटना। एक दिन वह तांबे की गागर भर कर झरने से लौट रही थी। ऊबड़-खाबड़ पथरीले पहाड़ी रास्ते पर उसे ठोकर लगी और गागर पहाड़ी ढ़लान पर कुछ दूर तक पानी उगलती हुई लुढ़की और फिर सपाटे के साथ उछलती हुई, ठाँय-ठाँय बजती बहुत नीचे गधेरे में चट्टानों के बीच कहीं दुबक गई थी। वह सास के डर से काँपती-हाँफती गधेरे में उतरी। चट्टानों के बीच से गागर निकाल कर देखी तो जो होना था वह हो गया था। गागर की गरदन पूरी अन्दर पहुंच गई थी और गोलाई जगह-जगह से बुरी तरह पिचक गई थी।

घर में सास ने गागर की हालत देखी तो माथा ठोक लिया। वह गागर सास के मायके की निशानी थी, उसके विवाह की साकार मधुरता थी जिसे उसकी फूहड़ बहू ने कुचल कर समाप्त कर दिया था। फिर तो गालियों की प्रचंड बौछार के साथ सास ने अपने बुढ़ापे और लम्बे वैधव्य की सारी झुंझलाहट, चिढ़ और क्रोध को एकत्र कर अपनी बची-खुची

ताकत का सम्पूर्ण प्रयोग करते हुए उसे ऐसा कूटा था जैसे उलट--पुलट कर मंडुआ कूटा जाता है। वह बुरी तरह छित कर चौक में ही पड़ी रह गई थी।

और वह दिन तो उसे बार बार याद आता है जब उसके सपनों की लहलहाती बेल पर अचानक दुर्भाग्य की बिजली गिरी थी और उसकी आशाओं के समस्त फूल राख हो गये थे। सास के अत्याचारों की कँटीली डाल पर वह गुलाब के फूल खिलाती चल रही थी कि उसका पति आयेगा और तब ये सारे दुख सुख में बदल जायेंगे। पर यहाँ भी भाग्य ने उसका साथ नहीं दिया।

शाम का समय था। वह घास लेकर जंगल से लौटी तो सास को चौक में छाती कूटते और चीखते पाया। स्त्रियाँ उसे ढ़ाढ़स दे रही थीं कि मौत पर किस का वस। भाग्य का लेख अमटि होता है। जो जन्मता है, वह मरता भी है। उनकी इस प्रकार की सहानुभूति पूर्ण बातों से रुक्मणी को समझते देर नहीं लगी थी कि उसका पति बरमा की लड़ाई में काम आया। वह स्तम्भित सी रह गई थी। दुर्भाग्य का यह तीसरा दृश्य निराशा के अन्धकार, एकाकी-पन की घुटन और मरघट की सी भयावहता से युक्त था।

रुक्मणी ने एक लम्बी साँस भरकर करवट बदली। बाहर बारिश थम चली थी, पर पहाड़ अब भी वर्षा के दान को न सँभाल सकने के कारण हहरा रहे थे। नालों के बहने की आवाज वातावरण मे गूँज रही थी। बाहर के कमरे में बिल्कुल सन्नाटा था। सोने वाला गहरी नींद सो रहा था।

आज की तरह उस रात भी पानी बरसा था। पति की मृत्यु के बाद सास के बढ़े हुए अत्याचारों से वह इतना उक्ता गई थी कि विधबा की स्थिति में उसे जीवन का कोई मोह नहीं रह गया था। वह सुबह-सबेरे दराती और रस्सी लेकर घास लाने के बहाने घर से निकली।

आसमान तब भी बादलों से ढका था और झुरमुर--झुरमुर वर्षा हो रही थी। वह पहाड़ से उतरकर नदी के किनारे आयी। आर--पार मटमैला पानी चट्टानों से टकराता उछल–उछल कर बह रहा था। वह नदी के बहाव की दिशा में किनारे–किनारे आगे बढ़ी। आगे नदी दो सीधे खड़े ऊँचे कगारों के बीच एक बड़ा घुमावदार मोड़ लेती है। वह नदी के उस ऊँचे चट्टानी कागार पर चढ़ गयी। रस्सी और दरांती एक तरफ फेंक कर वह नदी मे कूदने के लिए चट्टान पर आगे बढ़ी। छोर पर पहुंची तो ठिठक गई। नीचे उफनती नदी के भयावह रूप और प्रचन्ड वेग को देख कर उसका साहस डोल गया था। उसने सास के अत्याचार याद किये, एक विधवा के एकाकी, कठोर भावी जीवन का विचार किया, पर चट्टान से बहुत नीचे बरसाती नदी के उफनते पानी ने उसमें इतना भय भर दिया था कि जीवन की समस्त वृत्तियों पर उस भय का ही एकाधिकार हो गया था। उसके पैर थरथरा गये थे। वह चक्कर खाई-सी वहीं बैठ गयी थी। बहुत देर तक बैठी रही। और जब उठी तो दूर कहीं भाग जाने के निश्चय के साथ उठी थी।

मंडी आकर उसने अपने कर्ण–कुंडल (पहाड़ मे विधवा होने पर भी कर्ण--कुंडल पहने रखे जा सकते हैं) बेचे और फिर ऊपरी पहाड़ों में बहुत दूर बदरी नाथ के यात्रा मार्ग पर यहाँ दुकान कर ली थी। शुरु–शुरु में इधर के लोगों ने उसके विषय में तरह–तरह की अफवाहें चलायी और उसे वे भगोड़ी औरत कहते रहे, पर उसने अपने काम से काम रखा था। और अब तो सब कुछ सन्तुलन पर आ गया था।

× × ×

दुकान के बाहर सड़क पर लदियल टट्टुओं की घंटियाँ ठुनकने लगी थीं और घुड़ैत की तीखी आवाज—'ऐ घोड़ी, तेरा मालक मर जा' रुक्मणी के कानों में पड़ी। वह हड़बड़ाकर उठ बैठी। उसने झटपट

लालटेन जलाकर चूल्हा सुलगाया। चाय बनाने बैठी ही थी कि बाहर कमरे मे चारपाई चरमराई। आवाज आयी--

"दीदी ! सुबह हो गई, चलता हूँ। ठंडे-ठंडे निकल जाऊँगा।"

वह लालटेन लेकर बाहर आयी-"अभी तो काफी अँधेरा है और रास्ता कीचड़ैला। चाय बन रही है। तब तक कुछ उजाला भी हो जायेगा।"

थोड़ी देर बाद पातीराम को चाय का गिलास देकर रुक्मणी वहीं एक ओर जमीन पर दीवार का सहारा लेकर बैठ गई। पातीराम ने कहा-"तुम भी तो लो, दीदी !"

रुक्मणी अपने आप मे संकुचित होती हुई बोली—"मैं तो उम्र मे आपसे छोटी ही होऊँगी। आपके मुँह से 'दीदी' मुझे अच्छा नहीं लग रहा है।"

"तो बहिन ही सही।" पातीराम ने सहज भाव से कहा।

रुक्मणी इस नये सम्बन्ध की कल्पना से और भी सिमट गई। उस ने बात का रुख बदलते हुए कहा—'हमारे गाँव की एक लड़की मनारी गाँव व्याही थी।"

"अच्छा ! किसके साथ ?"

"वहाँ एक हवलदार था।"

पातीराम चौंक पड़ा—"हवलदार का नाम ?"

"नाम तो मुझे मालूम नहीं, पर यह खबर मिली थी कि वह बरमा की लड़ाई में……… ।"

"मारा गया, यही न ?"

"हाँ।"

"मैं ही वह हवलदार हूँ। झूठी खबर उड़ गई थी।"

रुक्मणी ने सोचा कि चाय खत्म होते ही पातीराम चला जायेगा,

इसलिए वह हर क्षण का उपयोग कर लेना चाहती थी । उसने पूछा—"बाल--बच्चे क्या है आपके ?"

"कोई नही ।"

"क्यों ?" रुक्मणी ने आश्चर्य से पूछा ।

"कैसे होते ?" फिर विवाद भरे स्वर में वह बोला—" तुम तो जानती ही होगी कि मेरी पत्नी नदी मे डूब कर मर गई थी !"

"दूसरी शादी तो होगी ?"

"नहीं, मैंने फिर ब्याह ही नहीं किया ।"

"क्यों ?" रुक्मणी ने पुलकित उत्सुकता से पूछा ।

पातीराम भाव--तरल स्वर में बोला—"मेरी मृत्यु के समाचार से दुखी होकर मेरी पत्नी ने जल-समाधि ली तो मैंने सोचा, वह मेरे नाम पर मर सकती है तो क्या मैं उसके नाम पर जी नहीं सकता और मैंने ब्याह ही नहीं किया ।"

रुक्मणी अपने प्रति अपने पति की निष्ठा देखकर भीतर ही भीतर खुशी से भर गयी थी । उसे अपने बंजर में नये सिरे से हरियाली फैलती दिखाई देने लगी । वह अब स्वयं को प्रकट कर देने के लिए किसी उपयुक्त क्षण की खोज में थी । उसने पूछा—"लेकिन आप लोगों ने यह कैसे समझ लिया कि आपकी पत्नी डूब कर मरी ?"

पातीराम ने कहा—"नदी के किनारे चट्टान पर उसकी दराती और रस्सी देखकर सबने यही कहा कि वह घास काटने के बहाने आकर वहीं से नदी मे फलाँग गयी ।"

रुक्मणी ने पातीराम को वास्तविकता के निकट लाने के उद्देश्य से कहा—"यह भी तो हो सकता है कि वह वहाँ दरांती और रस्सी का भ्रम पैदा कर कहीं भाग गयी हो ।"

पातीराम चाय पी चुका था । वह अपनी गठरी लेकर एकदम खड़ा हुआ और अपने भावावेश को दबाते हुए बोला—"बहिन, तुमने मुझे रात

में जगह ही नही, मेहमान की इज्जत भी दी। यह अहसान मैं कभी नही भूलूँगा। पर मेरी सती पत्नी पर भगौड़ी औरत के तुम्हारे सन्देह ने मेरे विश्वास पर कैसी चोट की है यह तुम नहीं समझ सकोगी। खैर तुम्हारा सन्देह तुम्हारे साथ है और मेरा विश्वास मेरे साथ। अच्छा, राम--राम।"

और पातीराम सड़क पर निकल गया था। द्वार पर खड़ी रुक्मणी उसे तब तक जाते देखती रही जब तक वह सीधी सड़क पर दिखाई देता रहा। फिर अनायास ढुलक आये अपने आँसुओं को पोंछकर वह अपनी दुकान सजाने लगी थी।

—०—

७/ राधा

कालिज दो दिन के लिए भी बन्द होता तो मैं फुर्र से गाँव उड़ जाता। कालिज का बन्द होना मेरे लिए पिंजरे का खुलना था। मैं सपनों के पंखों पर आतुरता से उड़ता हुआ गाँव पहुंच जाता था। वहाँ एक दुर्निवार आकर्षण था जो बरबस मुझे अपनी ओर खींच लेता था।

उस बार दशहरा-अवकाश के प्रारंभ होने की प्रतीक्षा इतनी भारी पड़ी कि छुट्टियों के चार दिन पहले ही गाँव के लिये चल पड़ा था। पढ़ाई के प्रति इस बेईमानी की खरोंच को सहलाने के लिए ही जैसे अपनी सभी पाठ्य पुस्तकें साथ लेता गया था—इस संकल्प के साथ कि गाँव में अपने एकान्त कमरे में बन्द होकर पढ़ाई की सारी कमी पूरी करनी है। माँ-बाप को भी विश्वास हो जायेगा कि मैं पढ़ाई के लिए भेजे जाने वाले उनके मासिक मनिआर्डरों के उद्देश्य पर ही चलता हूँ। इधर-उधर के लंद-फंद से मेरा कोई वास्ता नहीं रहता।

किन्तु, गांव जाकर मेरा निश्चय रूप न ले सका। निश्चय होता तो जरूर रूप लेता, पर वह तो मन के लिए एक भुलावा था जो वास्तविकता की आँच में मोम-सा पिघल गया था। अध्ययन का मेरा सारा काल्पनिक टाइम-टेबिल वहाँ की मेरी आवारागर्दी के हाथों पुँछ गया था। पढ़ना तो दूर, किताबों का वह बड़ा बंडल, जिसकी वजह से मुझे मंडी से गाँव तक के लिए मजदूर करना पड़ा था, खुला भी नहीं और छुट्टियों के बाद ज्यों का त्यों बँधा हुआ वापस आया था।

सुबह से शाम तक कभी खेतों में, कभी जंगलों में तो कभी झरने पर राधा के होने की अटकलें लगाकर बस भटकता ही रहता था। कभी सोची हुई जगह पर मिल जाती तो उसके घर लौटने के समय पर ही उस से अलग होता था, वरना बतियाता ही रहता था! फिर किसी दूसरे घूम

के रास्ते से ही गाँव में लौटता था। जब तक उसे देख नहीं लेता था, यहां-वहाँ, पहाड़ों के ऊपर-नीचे उसकी खोज में उन्मादग्रस्त-सा फिरता रहता था।

वह सुन्दर न होती तो यह हालत ही क्यों होती। प्रेम का पहला आधार ही रूप है। तब यह भी कहाँ जानता था कि वह प्रेम नहीं, कुछ और है। पहाड़ी वेश-भूषा में वह पीले पत्तों में गुलाब की अधखिली कली के-से रूप रंग में मेरी दृष्टि को बांध कर रख देती थी। उस समय यहां तक सोच बैठता था कि यदि उसे फिल्म-जगत् की किसी ग्लैमर-गर्ल की तरह सजाकर सौन्दर्य प्रतियोगिता में खड़ा कर दिया जाये तो विश्व-सुन्दरी का खिताब धरा-धराया है। यह भी संभव था कि आधुनिक साज-सज्जा के गमले में वह वन की कली अपना वन्य आकर्षण ही खो देती! जो भी हो, मेरे 'रिझवार नैनों' के लिए वह रूप पूरा 'रिझावन-हार' था।

जंगलात की फॉरेस्टरी से रिटायर्ड होने के केवल तीन वर्ष पहले ५६ वर्ष की अवस्था में चार बच्चों का पिता गिरधारीलाल पत्नी के मरने पर विधुर नहीं रह सका। वह चौदह वर्षीया राधा को व्याह लाया था। राधा का पिता धन का ही गरीब नहीं, मन का भी गरीब था। संभवतः उसकी मन की गरीबी की वजह धन की ही गरीबी रही हो। कहते हैं कि ज्यों ही उसने गिरधारीलाल के हाथों में दस-दस के नोटों की गड्डी देखी थी, उसे थोड़ी देर पहले का वह बूढ़ा गिरधारीलाल तत्काल जवान दिखाई देने लगा था। उस जैसा पैसे वाला सरकारी नौकर उस की पुत्री के लिए उसके सामने झोली फैला रहा है, वह अभिमान से भर उठा था। और उसने बड़ी कृतज्ञता के साथ उस कोमल लता को 'किनगोड़े' के काँटेदार झंकाड़ पर पनपने के लिए बाँध दिया था।

सरकार गिरधारीलाल को अब अधिक नौकरी कर सकने में असमर्थ समझकर रिटायर्ड करने जा रही थी और हमारे समाज ने 'साठे सो-

पाठे' की कहावत में सार्थकता देखते हुए उस बेमेल विवाह में कोई बुराई नहीं समझी थी। बड़ी धूमधाम के साथ गाँव के लोग बरात में गये थे और सबको पालकी में वर के रूप में विराजमान बूढ़ा गिरधारीलाल नारायण दिखाई दिया था। इस अन्याय के विरुद्ध आवाज कैसे उठती, जबकि किसी ने भी इसमें अन्याय जैसी कोई बात नहीं देखी थी। और चौदह वर्ष की अज्ञात यौवना बालिका राधा भी तब कहाँ जानती थी कि शादी का मतलब क्या होता है। जानती भी रही हो, तो वह कर भी क्या सकती थी।

विवाह के दूसरे दिन ही गिरधारीलाल अपनी ड्यूटी पर चला गया था। और अब एक वर्ष होने जा रहा था, वह घर नहीं आया था। इस बीच राधा किशोरी से युवती हो गयी थी। कली की पंखड़ियाँ कुछ-कुछ खिल गयी थीं। उसमें रूप का निखार और यौवन का कुछ-कुछ उभार आ गया था। मैं कालिज का भँवरा भला क्यों न गुंजन करता! लेकिन, उस खिली कली में एक विशेषता थी, वह भँवरे को मोहती तो थी, पर पास नहीं आने देती थी।

एक दिन मैं झरने के किनारे बने पत्थरों के चबूतरे पर बैठा राधा की प्रतीक्षा कर रहा था। तभी वह आती दिखायी दी। मैं देख-कर भी अनदेखा बन गया। वह नजदीक आयी तो आहट से चौंक गये की तरह ही मैंने उसकी ओर निगाह डाली। वह ऐसे मुस्कराई जैसे कह रही हो कि मैं तुम्हारे यहाँ बैठने का मतलब खूब समझती हूँ!

वह चुपचाप धार तक पहुँची। मैं प्रतीक्षा में रहा कि वह अपनी उस मुस्कराहट का अर्थ बतायेगी। उसने हाथ-पाँव धोये और मेरी तरफ पीठ कर गागर भरने लगी। गागर में पानी जाने की 'धम-धम' आवाज के अलावा हम दोनों के बीच बिल्कुल सन्नाटा था।

मैंने सोचा, गागर भरते ही यह मानिनी मेरी अभिलाषाओं की अविकसित कलियों को मुस्कराती हुई रौंद कर निकल जायेगी और मैं

एक तड़प लिए रह जाऊँगा। मैं आज उससे बहुत कुछ कहना चाहता था। इस लिए मैंने चुपचाप धार के बहाव में मिट्टी डाल दी। मटमैला पानी गिरता देख कर वह मेरी तरफ़ घूम गयी। उसके चहरे पर छद्म गम्भीरता के बादल अनायास फट गये थे और जाड़ों की प्रातःकालीन गुनगुनी धूप की तरह मुस्कान चमक उठी थी। उस समय निराशा की ठंड में सिमटे-सिकुड़े मुझे आशा की बड़ी मोहक गरमी मिली थी।

गागर का गंदला पानी उँढेल कर, मुझे शायद उस छेड़खानी से भुलाये रखने के लिए उसने पूछा था—"कब तक की छुट्टियाँ हैं?"

लहजा ऐसा था जैसे कह रही हो कि तुमसे पिंड कब छूटेगा? फिर भी आशा की जो गरमी उसकी मुस्कान दे गयी थी, मैं उसी में गरमाया रहा। मैंने बिनबूझे कहा—"छुट्टियाँ तो कब की समाप्त हो गयीं।"

"तो अब कब जाओगे?"

"परसों।"

"इतनी जल्दी!"

मैं नहीं समझ पाया कि उसके स्वरों में व्यंग्य था या मेरे चले जाने का सूनापन। फिर भी मुझे यह समझना ही अच्छा लगा कि मेरे चले जाने की बात से उसे अपने जीवन मे कुछ खालीपन महसूस हुआ है। इस समझ को लेकर मैंने कहा—"राधा! तुमने उस देव की कहानी सुनी है जो बाहर जाते समय अपने प्राणों को जादू के सन्दूक में बन्दकर जाता था?"

"हाँ, तो?"

"मेरे प्राण भी यहीं बन्द रहेंगे।"

"समझी नहीं।"

"भोली न बनो, राधा।"

इस पर उसने बात बदली—"अब कब आओगे?"

"दीवाली की छुट्टियों में।"

गागर भर कर वही जा रही थी। उसने सिर पर 'डीलू' रखकर गागर को पहले घुटनों पर सँभाला, फिर छाती पर लिया और एक झटके के साथ 'डीलू' पर रख दिया। मैं सोच रहा था कि गागर उठाने के लिए वह मुझे कहेगी किन्तु वह स्पर्श--सुख भी मेरे भाग्य में नहीं था।

वह गागर लेकर जाने लगी तो मैंने उसके पास आकर कहा—"राधा! थोड़ी देर, बस थोड़ी देर रुक जाओ!"

उस समय मेरे स्वर में याचक की--सी दीनता थी। फिर भी राधा घबराई--सी बोली थी—"क्यों? क्यों रोक रहे हो मुझे?"

"एक बात कहनी थी।"

"जल्दी कहो, मुझे देर हो रही है।"

मैं अचकचा गया था। एक दम कैसे बताता कि मेरे मन में उसके लिए कितना कुछ है? बात की शुरुआत पकड़ में नहीं आ रही थी फिर यह सोचकर कि अगर बोलने में देर की तो वह चली जायेगी और फिर ऐसा मौका नहीं मिलेगा, मैं बोल पड़ा था—"जब मैं शहर चला जाता हूँ, राधा, तो तुम बहुत याद आती हो।"

"क्यों भला?" राधा ने उसी गंभीरता से कहा, "मैंने तुम्हारे साथ कौन--सी भलाई की जो मैं याद आती हूँ?"

मैं इसका क्या जवाब देता? मैंने देखा, वह समझकर भी नहीं समझना चाह रही है। इसलिए मैंने सीधे कह दिया—"तुम मुझे बहुत अच्छी लगती हो, राधा!"

"लेकिन मैं सचमुच अच्छी हूँ, यह मैं अब तक नहीं जान पायी।" राधा के इस कथन में उसकी कोई पीड़ा--सी झलकी थी, जिसे मैं तब नहीं पकड़ पाया था। मैंने कहा—"तो क्या मैं झूठ कह रहा हूँ?"

"तुम्हारी सच्चाई जरूरी नहीं कि मेरी भी सच्चाई हो।"

और राधा मुझे अवाक् छोड़कर चली गयी थी।

× × ×

दीवाली की छुट्टियों में गाँव आया तो दस लोगों की बीस जबानों से सुना कि राधा कहीं भाग गयी और उसका कोई पता नहीं कि कहाँ है। हो सकता है कि कहीं जाते हुए, जंगल में उसे शेर खा गया हो या वह खुद ही कहीं नदी में डूब--डाब गयी हो। यह खबर सुनकर मुझे अपने लिए नहीं, राधा के लिए बड़ा दुख हुआ था।

बात यह हुई थी कि इस बीच गिरधरीलाल आया था। उसने कई बार देखा कि जब भी गाँव के प्राइमरी स्कूल का नवनियुक्त मास्टर उधर से निकलता है, राधा उससे हँस–हँस कर बातें करती है। यह जानते हुए भी कि मास्टर राधा के मायके के गाँव का है और गाँव के रिश्ते से वह उसे भाई कहती है, वह उसके साथ राधा का यह रंग-ढंग नहीं सह सका था। वह सोचता कि आखिर यह नौजवान मास्टर इधर रोज आता ही क्यों है? इधर से उसकी स्कूल का रास्ता है तो रास्ते के और घरों में क्यों नहीं रुकता? राधा उसके गाँव की भी है तो रोज-रोज आखिर क्या बातें होती हैं? बातें करते हैं तो हंसने का क्या मतलब? मास्टर हसता है तो हंसे, राधा उसकी हंसी में हँसी क्यों मिलाती है? उसके सामने जब यह हाल है तो उसकी पीठ पीछे तो पता नहीं क्या-क्या गुल खिलते होंगे? मान भी ले कि अभी तक ऐसा कुछ नहीं हुआ, तो यह कैसे माना जा सकता है कि उसके चले जाने के बाद आगे भी कुछ नहीं होगा?

संदेह की इस आग की आँच जब वह नहीं सह सका तो एक रात इसी बात को लेकर भड़क उठा था। उसने उसकी ऐसी कुटम्मस की थी कि उसकी भद्दी-भद्दी गालियों के ऊँचे स्वर और राधा की चीख-चिल्लाहट से सोते हुए सारे गाँव की नींद उखड़ गयी थी। दूसरे दिन सुबह गिरधारीलाल ने देखा तो राधा गायब! मास्टर पर शक गया कि

उसके साथ भाग गयी होगी। लेकिन, जब निश्चित समय पर मास्टर उस रास्ते निकला और उसने सहज भाव से रोज की तरह गिरधारीलाल का अभिवादन किया तब यह संदेह भी मिट गया। राधा के मायके में खोज करायी, पर वह वहां भी नहीं मिली।

गिरधारीलाल के लिए उसकी पत्नी का भाग जाना एक बड़ी बेइज्जती की बात थी। लेकिन जब वह कहीं नहीं मिली तो उसके मर-खप जाने के निश्चय ने उसे सन्तोष ही दिया। औरत के घर से भागने और फिर किसी के भी घर बैठने से उसका मर जाना कहीं अच्छा है। इससे मर्द की इज्जत तो बची रहती है। औरत की जिन्दगी से मर्द की इज्जत बड़ी होती है!

राधा के इस प्रकार गायब हो जाने की घटना सुनाकर गांव वालों ने अपनी राय दी थी कि भ्रष्ट औरत के साथ मर्द का ऐसा ही कठोर व्यवहार रहना चाहिये। राधा के लिए 'भ्रष्ट' और गिरधारीलाल के लिए 'मर्द' शब्दों को सोच कर मैं हंस दिया था—ऐसी हँसी, जिसमें करुणा और क्रोध का सम्मिश्रण था।

× × ×

वर्षों बाद मैं जिला-विकास-अधिकारी के रूप में गांवों का दौरा करते हुए मुनि की रेती पहुँचा। शाम के समय, यही कोई चार-पाँच बजे के लगभग, घूमने के उद्देश्य से लक्ष्मणझूले की तरफ निकल गया। मुनि की रेती से लक्ष्मणझूला तक गंगा के किनारे-किनारे पहाड़ों पर बल खाता हुआ एक अच्छा-खासा चौड़ा रास्ता गया है। मैं चारों ओर के जंगलों से ढके पहाड़ों और घाटी में सांय-साँय बहती गंगा के मनोरम दृश्यों में खोया हुआ चला जा रहा था। हवा के शीतल झोंकों में सिहर-सिहर उठता था।

तभी मुझे अपने नाम की पुकार सुनायी दी। आवाज की दिशा में देखा तो एक दुकान के आगे एक औरत खड़ी दिखाई दी। मुझे असमंजस

में खड़ा देख कर उसने फिर आवाज दी—"सुरेश बाबू !"

मैं तब भी दुविधा में खड़ा रहा कि जाऊँ या न जाऊँ। पता नहीं, कौन है ? कैसी है ? और जैसे इसी उत्सुकता से प्रेरित होकर मैं दुकान पर पहुंच गया था। यह जानते हुए भी कि उसने मुझे ही बुलाया था, किन्तु उसके नजदीक पहुंच कर भी जब मैं उसे नहीं पहचान पाया तो मैंने उपेक्षा के स्वरों में पूछा था—"मुझे बुलाया ?"

"हां !" और एक कुर्सी खींच कर उसे धोती के पल्ले से पोंछती हुई वह साधिकार-सी बोली—"बैठो।"

"क्या काम है ?" मैंने खड़े-खड़े ही पूछा।

"पहले बैठ तो जाओ, सतीश बाबू !" उसके स्वर में घनिष्ठ रूप से परिचित व्यक्ति का-सा आग्रह था। मैंने कहा—"मैं तुम्हें पहचान नहीं पा रहा हूँ।"

"वह तो दीख ही रहा है।" यह कह कर वह मुस्काराई। और उस मुस्कान ने जैसे स्मृतियों पर छाया हुआ विस्मृति का कोहरा छांट दिया था। मैं लगभग चीखता-सा बोला—"राधा !"

"हाँ, राधा ही हूं।" वह फिर गंभीर थी—"अब तो बैठ जाओ।" मैं बैठ गया और वह चाय बनाने लगी। उस खामोशी में मैं सोच रहा था कि क्या यह वही राधा है जो बूढ़े की पत्नी होने पर भी एक नौजवान के प्रेम-पूर्ण आग्रहों के सामने अडिग रही। नहीं, वह जीवित नहीं है। जरूर वह राधा मर गयी है।

मैंने खामोशी तोड़ते हुए पूछा—"यह दूकान किसकी है ?"

"अपनी ही है।" भट्टी में लकड़ी झोंकते हुए उसने कहा

"अपनी का मतलब ?"

मैं यह जानना चाह रहा था कि जिसके घर वह बैठी है, वह कौन है ?

उसने भट्टी में फूंक मारते हुए मेरी तरफ देख कर कहा—"अपनी

माने मेरी।"

"तो क्या तुम इस दूकान में अकेली रहती हो ?"

एक व्यंग्यपूर्ण मुस्कान के साथ उसने कहा—"नही।" और फिर मेरे चेहरे की बदली हुई रंगत का मजा-सा लेती हुई बोली—"मेरे साथ यह कुत्ता भी रहता है—बड़ा खूंख्वार!" भीतर चारपाई के नीचे उसने इशारे से दिखाया था। एक बड़ा भोटिया कुत्ता चारपाई के पाये से चैन के साथ बँधा हुआ मुझे अपनी खौफनाक आंखों से देख रहा था।

उधर से दृष्टि हटाकर मैंने पूछा—"तो क्या तुम तब से बिल्कुल अकेली हो ?"

मेरे इस प्रश्न से वह चोट--खायी--सी बोली--"तो तुम्हें भी मुझ पर शक है! फिर निष्कर्ष--सा निकालती हुई बोली—"शायद औरत के लिए मर्द की निगाह शक की ही होती है।"

राधा ने यह कहकर मुझे और अपने पति गिरधारी लाल को एक ही कोटि में रख दिया था। बल्कि हम दोनों को लेकर सारी पुरुष–जाति को ही लांछित कर दिया था। मुझे अपने पर ग्लानि हुई कि मुझे यह चरित्र--आक्षेपक प्रश्न नही पूछना चाहिए था। मैंने सन्दर्भ बदलते हुए कहा—"राधा! एक शोक पूर्ण समाचार है। गत वर्ष गिरधारी लाल जी का स्वर्गवास हो गया।"

"अच्छा!" उसके चेहरे पर उदासी की एक हल्की--सी बदली क्षण भर दिखायी दी। फिर वह संतुलित होकर बोली—"अभी मरने की उमर तो नहीं थी, पर मौत उमर का विचार कहाँ रखती है।" यह कहते हुए उसने उँगली डालकर हाथों की चूड़ियाँ तोड़ दी थी। फिर एक फीकी हँसी के साथ कहा था—"आज तक सधवा थी, अब विधवा हूं।"

मुझे एक क्षण पहले की सधवा और अब विधवा राधा में कोई परिवर्तन नहीं दिखायी दिया, सिवा इसके कि अब उसकी कलाइयों में

चूड़ियाँ नहीं थीं। मैंने उस क्षण गहराई से महसूस किया था कि न वह कभी सधवा रही और न अब विधवा है। वह जीवन के झंझावतों में भटकती एक अछूती नारी चेतना है।

"क्या सोच रहे हो, सुरेश बाबू ?

उसने पूछा तो मैं अपनी सोच को ही सोचता रह गया था।

"बाल--बच्चे क्या हैं तुम्हारे ?" उसके इस सपाट प्रश्न ने मुझे आसान कर दिया था। मैं बोला—"कुछ नहीं।"

"क्यों ? क्या शादी नहीं की ?"

"हुई थी।" मैंने कहा, "नौ दस वर्ष पहले हो गयी थी, किन्तु व्याह के एक वर्ष बाद ही वह चल बसी। तब से अकेला ही हूँ।"

"अकेले क्यों रहते हो ? शादी कर लो।"

अपने अकेले होने का जो दर्द अनायास मेरे अन्तिम वाक्य से प्रकट हो गया था, संभवत: उसे ही अनुभव कर उसने विवाह करने की बात कही थी। मैंने कहा—"पत्नी की मृत्यु के बाद सोचता था कि अब इस झंझट में नहीं फसूंगा, किन्तु अब अकेलेपन की झंझटें कहीं अधिक परेशान रखती हैं। सोचता हूँ, कोई मेरी उम्र से मेल खाने वाली लड़की मिल जाये, फिर चाहे वह कुँवारी हो या विधवा, शादी करलूँ।"

"शादी के लिए यह शर्त क्यों ?"

और इस प्रश्न के उत्तर को मैं राधा के जीवन से जोड़ बैठा था—"छोटी उम्र की किसी कुँवारी लड़की से विवाह करके मैं उसे तुम्हारी कहानी नहीं देना चाहता।"

मेरे इस सीधे आक्षेप से राधा क्षण भर हतप्रभ-सी मुझे देखती रह गयी थी। फिर गभीरता से बोली थी—"सुरेश बाबू ! जिन्दगी गणित का सवाल नहीं कि एक और एक दो ही हों। जिन्दगी में एक और एक जुड़ कर कभी तो एक ही हो जाते हैं, कभी ये जुड़ कर भी नहीं जुड़ पाते और कभी ऐसे जुड़ते हैं कि ग्यारह हो जाते हैं। जरूरी नहीं कि मेरी

परिस्थिति सबको मेरी ही कहानी दे।"

मैं उसकी बात की सचाई को सोचता हुआ अवाक् रह गया था। मुझे उस स्थिति से उबारने के लिए ही जैसे उसने प्रसंग बदला था—"यहाँ कहाँ ठहरे हो ?"

"मुनि की रेती की एक धर्मशाला में।"

"यात्रा करने आये हो क्या ?"

"हाँ, यात्रा की यात्रा और काम का काम। बी० डी० ओ० हूं। ब्लाक के दौरे पर आया हूँ।"

"अच्छा, तो विकास-अधिकारी हो !

उसके चेहरे पर मैंने अपने अधिकारी होने की सच्ची प्रसन्नता पायी थी।

× × ×

आफिस के काम-काज के बीच भी राधा बराबर याद आती रही। उसके प्रति युवावस्था के मेरे भाव, जो न जाने कहाँ मूर्छित पड़े थे, अब होश में आकर मुझे परेशान करने लगे थे। घर वालों के विरोध की आशंका के बावजूद मैं राधा को अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार करने के लिए विवश-सा होता जा रहा था। मेरी परिस्थितियों ने मेरी उस दिन-ब-दिन उद्दाम होती भावना को अनेक प्रकार से बाँधने का प्रयत्न किया, पर वह सबको तोड़ती-उछालती बह निकली। और मैं एक दिन राधा को अपनी बनाने का निर्णय लेकर उसकी दूकान पर पहुँच ही गया।

दूकान पर दो यात्री चाय पी रहे थे। राधा ने मुझे बैठने के लिए कहा और अपने काम पर लगी रही। जब तक यात्री रहे, वह मेरे लिए भी दूकानदारिन ही बनी रही। जिस गम्भीरता से उसने यात्रियों को चाय दी, उसी तरह मुझे भी उसने चाय का प्याला थमाया था। उनके चले जाने के बाद ही उसने परिचित की तरह पूछा था—"तब से आज आ पाये, सुरेश बाबू !"

उसके स्वर में प्रश्न नहीं, शिकायत थी, जो मुझे अच्छी लगी। मैंने कहा—"आफिस के काम से फुरसत ही नहीं मिली।"

"चलो, आये तो सही।" उसने गहरी साँस छोड़ते हुए कहा था।

मैं यही सोचता चुप था कि बात कैसे और कहाँ से शुरु करूँ ? सिर उठाकर देखा तो उसकी आँखों से आँखें टकरा गईं, पर टकराई ही नहीं रह सकीं। उसने दूसरी ओर दृष्टि फेर ली थी। मैंने कहा—"राधा ! आज मैं तुम्हारे पास अपने जीवन का एक बहुत बड़ा निर्णय लेकर आया हूँ। तुम्हारी मुहर लगने पर ही वह कारगर हो सकता है।"

राधा ने चौंक कर देखा था—"निर्णय ? मुहर ? मैं कुछ नही समझी।"

मुझे ऐसा लगा था कि जैसे वह समझ कर भी समझना नहीं चाह रही है। पर, फिर यह सोच कर कि शायद यह मेरा भ्रम हो, मैंने उसे स्पष्ट समझा देने के लिए खुले शब्दों में कहा—"इस बीच मैंने तुमसे शादी करने का निर्णय लिया है, राधा !"

और उसके चेहरे पर विस्मय और अवसाद के भावों को आते-जाते देख कर अस्वीकृति की आशंका से मैंने याचना के-से स्वर में कहा था—"मैं तुम्हारी स्वीकृति चाहता हूँ, राधा ! देखो, 'ना' नहीं कहना; मुझे बड़ा दुख होगा।"

वह विस्फारित नेत्रों से मुझे देखे जा रही थी। और मेरे लिये एक क्षण का विलम्ब भी भारी पड़ रहा था। उसे उत्साहित करने के विचार से मैंने फिर कहा—"मैं सच कह रहा हूं, राधा ! बस तुम हां कह दो—हाँ, केवल हाँ।"

उसके चेहरे का भाव बदल गया था। उस पर एक करुण मुस्कराहट देख कर मेरी आशा बधी कि वह अब तक के अपने दुःख-दर्दों को लेकर मेरे प्रस्ताव से मुस्कराई है। मैंने आशान्वित होकर उसे बढ़ावा

दिया— 'संकोच छोड़ दो, राधा ! मन में जो है उसे होटों पर आने दो।"

उसकी आंखो से बरबस आँसू की धाराएं फूट निकलीं। उन्है आंचल से पोंछती हुई वह अश्रु-गद्गद् स्वर में बोली—सुरेश बाबू ! तुम्हारे साथ विवाह करके मेरी इज्जत ही बढ़ेगी। समाज की दृष्टि में मैं एक गिरी हुई औरत हूँ—दस तरह के लोगों को चाय पिलानेवाली। एक विकास अधिकारी की पत्नी बन जाने पर मेरा सारा कलंक ही धुल जायेगा। लेकिन, वह कलंक धुल कर तुम्हारे माथे पर चढ़े—यह मैं नहीं चाहती। अपने सुख-सौभाग्य के लिए मैं नहीं चाहती कि तुम्हारे मान-सम्मान को मिट्टी में मिला दूं।"

"मैंने सब कुछ सोच-समझ कर ही तुम्हारे साथ विवाह का निर्णय लिया है, राधा ! विश्वास करो, इसमे मेरी कोई अप्रतिष्ठा नहीं होगी। बल्कि आज के इस जमाने में निश्चित ही यह एक बहुत बड़ा समाज-सुधार का काम माना जायेगा।"

"एक बात और भी है, सतीश बाबू !" राधा भाव-विह्वल-सी बोली थी, जैसे मेरी याचना को स्वीकार न कर पाने की अपनी विवशता के लिए क्षमा मांग रही हो —"तुमने आज जिस कारण से मुझे अपनाना चाहा, वही तो मेरी जीवन-भर की कमाई है। उसे खोकर मैं कुछ नहीं रह जाऊँगी।"

और मेरे पैरों पर गिर कर फूट-फूट कर रोते हुए उसने प्रार्थना के-से स्वर में कहा था— "मेरी यह कमाई मुझसे न छीनो, सतीश बाबू !"

× × ×

तब से, जब भी मुझे राधा याद आती है, सब बातों का पीछे धकेल कर, एक प्रश्न मेरे सामने आकर खड़ा हो जाता है कि यदि राधा सच-मुच गिरी हुई औरत होती तो क्या मैं उसके सामने विवाह का प्रस्ताव रख सकता था ? इसके उत्तर में मैं गहराई से अनुभव करने लगता हूँ कि समाज-सुधार का मेरा वह आदर्श कितना थोथा, वायवी और सतही था !"

८/ एक प्रश्न अनुत्तरित

"माँ! आज भी गेहूँ की रोटी नहीं बनायी ?" माँ से सटकर बैठे निहालू ने पूछा।

चूल्हे के एक ओर पाटे पर बैठी माँ चून का छँछिया पका रही थी। निहालू से बड़े दो बच्चे—बड़ी लड़की आनन्दी और मँझला लड़का दयालू—चूल्हे के पास आग के उजाले में भूख की मूर्त्ति बने चुपचाप बैठे थे। जो बात उनकी जबान पर नहीं आ सकी थी, वही छोटे निहालू ने बड़ी आसानी से पूछ ली थी। वे भी माँ का उत्तर जानने के लिए उत्सुक हो गये थे। पर, माँ के पास बच्चों के लिए इसका कोई उत्तर नहीं था कि उसने अब भी छँछिया ही क्यों बनाया, गेहूँ की रोटी क्यों नहीं बनायी ? वह चुप बनी छँछिया घोटती रही। निहालू माँ की खामोशी की भाषा कैसे समझता ? उसने पीछे से माँ के गले में बाँहें डालकर फिर कहा—"माँ! बोलती क्यों नहीं! क्या तू छँछिया के बाद गेहूं की रोटी नहीं पकायेगी ?"

चूल्हे में उठने वाला धुआँ पूरी रसोई में बादल की तरह छाया हुआ था। आग की हल्की रोशनी में धुआँ-भरी कड़वी आँखों से माँ कड़ाही में पकते छँछिया को देखने का प्रयत्न कर रही थी कि अब पकने में क्या देर है। साथ ही छांछ में बने चून के गोलों को वह उल्टी करछी से बराबर फोड़ती-मिलाती जा रही थी। निहालू ने फिर वही प्रश्न दोहराया तो माँ ने बिना कारण बताये संक्षिप्त--सा उत्तर दिया—"नहीं।"

वह "नहीं" माँ के मन के कई प्रश्नों को अपने अन्तराल मे छिपाये हुए था। निहालू के प्रश्न के उत्तर के रूप में उसके मन में कई प्रश्न उठ गये थे। क्या वह नहीं चाहती कि वह अपने बच्चों को गेहूं की रोटी खिलाये ? चून की रोटियाँ और यह छँछिया खाते--खाते उनका पेट चलने

लगा है और कब से वे गेहूँ की रोटी के लिए तरस रहे हैं। यही कोई दो–तीन महीने हो गये हैं, पधान ज्यौर के लड़के के व्याह में ही इन्होंने पूरी--परसाद खाया था। तब से बस मंडुवा ही चल रहा है—उसी की रोटी, उसी का बाडी, उसी का छँछिया। कैसा चेहरा निकल आया है बच्चों का! गाय थी, वह पहाड़ से गिरकर मर गयी। उसकी कलोड़ बछिया थी, उसे बाघ नें मार दिया। बच्चों के लिए दूध--घी कुछ नहीं। गाँव में सूनू के दादा की बरसी हुई थी, तब से लेकर मेरे बच्चों ने खीर नहीं खायी। बड़े बच्चे तो अपनी हालत समझने लगे हैं, इसलिए चुप रहते हैं। पर यह निहालू ऐसा कुछ कह देता है कि दिल पर आरी चल जाती है—तड़पकर रह जाती हूँ। यह कई बार उस खीर की चर्चा चलाकर कह चुका है—'माँ, तुम भी बनाओ न कभी खीर।' उस समय मन करता है कि मार--मार कर उसे अच्छी खीर खिला दूं। अभागे को यह भी नही मालूम कि गरीब खीर नहीं खाते। बड़ा खीर खाने वाला आया! पैदा होते ही बाप को खा गया!

वे होते तो आज किस बात की कमी थी। वे थे तो भंडार घर में अनाज के दाबले भरे रहते थे। गुठ्यार में गंगापारी गाय बधी रहती थी। बैलों की ऊंची ठाढी जोड़ी थी। गाँव के लोग उनके सौभाग्य को कनखियों से देखते और जल--भुनकर निकल जाते थे। वह सूरज ही डूब गया, जिससे लोगों की आँखें झप जाती थी। ऐसा बज्जर गिरा कि सारा पेड़ सूख गया। कोई फूल नहीं, कोई पत्ता नहीं। और बज्जर--गिरे की आग बराबर सुलगती आ रही है।

उसने छँछिया की कड़ाही उतारी। निर्बाध उठती आग की लपटों में उसका चहरा साफ झलक गया—एक विधवा का अलंकार-शून्य चेहरा। बुझी--बुझी आंखों में कठोर वर्त्तमान का रूखापन, बन्द होठों में आशा--आकांक्षाओं और कुचले हुए सपनों की समाधि, उलझे--रूखे बालों मे जीवन के प्रति उपेक्षा--भाव, सब मिलाकर करुणा की एक दर्द भरी

कहानी है उसका चेहरा।

निहालू छछिया की कड़ाही के पास बैठा तो उसकी खट्टी गंध अच्छी नहीं लगी। वह झुंझला कर बोला—"माँ! गेहूं की रोटी क्यों नहीं बनायी?"

दस बरस की बड़ी बहन आनन्दी ने उसे एक दम झिड़का—"चुप।" वह समझने लगी थी कि ऐसे प्रश्नों से माँ को बड़ा गुस्सा आता है। फिर एक निहालू ही नहीं पिटता, सब पिटते हैं। फिर माँ खाना नहीं खाती। चारपाई पर ओढ़ना ओढ़कर रात भर रोती है। बीच--बीच में उठकर सोते बच्चों को प्यार करती है—उनकी आँखें चूमती है। बच्चों को मारने के बाद कैसी तो हो जाती है वह!

निहालू बड़ी बहन आनन्दी के निषेध का उद्देश्य न समझकर बोला—"बिरजू चाचा के घर तो रोज ही गेहूं की रोटियाँ पकती हैं, हमारे यहां क्यों नहीं पकती? चाची रोज सुबह मोहन को गुड़ और रोटी देती है। रात को वह दूध के कटोरे में रोटियाँ भिगोकर खाता है। तभी तो वह मुझे पटक देता है। कहता था—दूध पीने स बड़ी ताकत आती है। मैं उससे बड़ा हूं न, माँ?"

माँ ने बच्चों के सामने थालियाँ सरकाते हुए कहा—"बहुत गरम है, धीरे--धीरे खाना। हाथ--मुंह न जला देना। मारूंगी हाँ!"

आनन्दी ने छँछिया की खटास से चटकारें मारते हुए बन्द हुई एक आँख से माँ की ओर देखा। दयालू बोल पड़ा—"बड़ा खट्टा है, माँ! थोड़ा नमक देना।"

"अपने सिर के साथ खा ले।" माँ ने तमक कर कहा—"बिना नमक के नहीं खा सकते! ये ले……" यह कह कर उसने नमक का खाली कठौता उसकी तरफ फेंक दिया—"ले ले सारा नमक, किसी को न देना।"

सब चुपचाप छँछिया सपोड़ने लगे। सुड़प–सुड़प् की आवाज के

अलावा बिल्कुल खामोशी थी ।

आनन्दी ने खाते--खाते एक डरी--सहमी दृष्टि माँ पर डाली और माँ को अपनी ही ओर देखती पाकर झट पलकें झुका ली । मां को उसकी यह चेष्टा छू गयी । उसकी कठोरता भीतर ही भीतर पिघलने लगी । वह भी तो जानती है कि इतना खट्टा छँछिया बिना नमक के नहीं चलता । नमक होता तो वह धनिये की हरी पत्तियों के साथ पीसकर पहले ही छँछिया पर बुरक देती । पर, इस आनन्दी को जरा भी समझ नहीं । खटास की चटकारें मारने लगी । बच्चों को लहर लगा देती है । जिस बात से मैं दुखी रहती हूं उसे ही चला बैठती है । और फिर मैं पगला जाती हूँ ।

अपने खुद के सामने इतनी सफाई देने पर भी वह अपने को माफ नहीं कर पा रही थीं । उसने आनन्दी से कहा—"बेटी ! और छँछिया दूँ ।

"नहीं, माँ, पेट भर गया ।" आनन्दी झुकी–झुकी बोली ।

"एक करछी और ले ले, बेटी ।" माँ ने दुलारते हुए कहा और सचमुच एक करछी आनन्दी की थाली में डाल दी ।

"क्यों दिया, माँ ?" आनन्दी ने सिर उठाकर माँ की तरफ सीधी दृष्टि डालते हुए कहा—"मैं नहीं खाऊँगी । तेरे लिए तो कुछ बचा ही नहीं !"

माँ की आँखें छलछला गयीं । उसने भरे स्वर में कहा—"इतना सारा तो पड़ा है । फिर मुझे भूख भी नहीं । तुम लोग भर पेट खा लो ।"

निहालू उठा और माँ की आँखों में आंखें डालकर बोला—"माँ ! तू रो रही है ? क्यों रोती है, माँ !" और वह माँ की धोती के छोर से उसके आँसू पोंछने लगा ।

माँ जो अब तक अपने आँसुओं की उमड़न को अपने पलकों में बाँधे हुए थी, झर–झर रोने लगी । और आँसू पोंछते हुए बोली—"रो कहाँ रही हूं, रे ! यह तो आँखों में धुआँ बैठ गया है । ये चीड़ की

लकड़ियाँ बड़ा धुआँ करती हैं।"

आनन्दी थाली में छँछिया छोड़कर उठ गयी। दयालू ने भी पूरा छँछिया नहीं खाया। वह भी उठ गया।

"अरे, खाते क्यों नहीं?" माँ ने हड़बड़ा कर कहा—"थाली में यह क्यों छोड़ा? यह सब बेकार जायेगा। मेरे लिए तो कड़ाही में ही बहुत है।"

आनन्दी और दयालू ने बाहर चौक में जाकर हाथ धोये और फिर आकर एक ओर बैठ गये।

"तू क्यों चुप बैठा है, रे निहालू?" माँ ने कहा—"खाता क्यों नहीं?"

पता नहीं, निहालू ने भी क्या सोचकर कहा—"मेरा भी पेट भर गया है, माँ, हाथ धुला दो।"

माँ सब थालियों का छँछिया कड़ाही में उलटकर खाने लगी। दो--चार कौर किसी तरह निगले और फिर कड़ाही को एक ओर सरका कर उसे थाली से ढ़क दिया। उसने निश्चय किया—कल जैसे भी हो वह अपने बच्चों को गेहूं की रोटियाँ खिलायेगी।

दूसरे दिन वह सुबह--सुबह उठी और दौलत की वहू के पास पहुंच गयी। दौलत की वहू उस समय रसोई घर में चाय उबाल रही थी। कहने के लिए तो उसने कहा--आओ दीदी, बैठो, पर भीतर ही भीतर उसे उसका सुबह–सुबह और फिर ऐन चाय के वक्त आना अच्छा नहीं लगा। कुछ माँगने आयी होगी, वह समझ गयी थी। मन में एक झुँझलाहट उठी–कभी नमक माँगने आ जाती है तो कभी गुड़। आखिर यहां कोई सदाव्रत नहीं खुला है कि हमेशा देती ही चली जाऊँ। यों तो घर ही लुट जायेगा। किन्तु मन की कड़ुवाहट को जवान पर मीठा बनाती हुई बोली—"कहो दीदी कैसे आयी?" यह कहकर उसने एक कटोरी चाय उसकी तरफ खिसकायी।

"तुम तो जानती ही हो, मुल्ली, मुझे तुम्हारा ही सहा रहता है।" चाय की कटोरी अपनी ओर खींचते हुए निहालू की मां

ने कहा--"जब औरत पर से मर्द का हाथ उठ जाता है वह कुछ नहीं रहती। मैं अकेली होती तो सब झेल लेती। बच्चों का दुख नहीं सहा जाता ....।"

"दीदी, जरा मैं उन्हें ऊपर चाय देकर आती हूं।" यह कह कर दौलत की बहू ने धोती के पल्ले से गरम गिलास लपेटा और सपाटे से चली गयी।

निहालू की माँ सोच रही थी--"मैं भी कैसी मूर्ख हूं, जिस किसी को अपना दुखड़ा सुनाने बैठ जाती हूं। मेरे दुख से किसी को क्या पड़ी है! मुझे साफ--साफ अपनी बात कह देनी चाहिए थी कि मैं क्यों आयी हूं। जब किसी में अपने आप दया नहीं, तो मैं आगे होकर अपने लिए उनमें दया क्यों पैदा करने लगती हूं?"

चाय की मीठी--खुशबूदार घूंट भरते हुए उसे निहालू का स्मरण आया। बाँध कर ले जाने लायक चीज होती तो वह अपने पल्ले से बाँधकर उसके लिए ले जाती चाय। पीकर कितना खुश होता वह।

दौलत की बहू लौटी और अपनी जगह पर बैठ कर चाय पीती बोली--"अरे, बड़ी जल्दी पीली चाय तुमने!"

निहालू की माँ को उसका यह कथन चुभ गया। उसे जवाब सूझा, किन्तु उसकी कड़वाहट महसूस कर चुप रही। थोड़ी देर के लिए दोनों के बीच खामोशी तन गयी। दौलत की बहू निहालू के माँ के टूटे कथन को जोड़ना नहीं चाहती थी और निहालू की माँ सोच रही थी कि दौलत की बहू चर्चा चलाए तो वह अपना मतलब कहे। किन्तु, दौलत की बहू को क्या गर्ज पड़ी थी कि अपने पर आफत ओढ़ती। आखिर निहालू की मां को ही कहना पड़ा--"मुल्ली, बड़ी जरूरत है, बस दो रुपये.........;"

और मुल्ली ने चाय ऐसे गिटकी जैसे बसिंगा (वासा) का कड़ुवा रस हो--"दो रुपये!" उसके स्वर में बहुत बड़ी रकम का--सा आश्चर्य और चेहरे पर असमर्थता की कृत्रिम छाप देख कर निहालू की माँ ने

कहा--"तुम्हारे लिए दो रुपये कुछ नहीं और मेरे लिए बहुत कुछ हैं, मुल्ली !" उसके स्वर में दीनता थी--"घर में नमक की डली नहीं। अब तुमसे क्या छिपाऊं, तुमसे छिपा भी क्या है, महीनों हो गये, बच्चों ने गेहूँ की रोटी नहीं खायी।"

दौलत की बहू अप्रभावित--सी बोली--"सच मानो, दीदी, मैं इस समय बिल्कुल खाली हूं। फिर तुम्हारे लिए कहीं से मांग--देखकर लाऊँ भी तो........।"

"तो क्या, मुल्ली ?"

"तो तुम लौटाओगी कहाँ से ?"

निहालू की माँ अपनी गरीबी के घावों पर इस मर्मान्तक प्रहार से भीतर ही भीतर कराह उठी। किसी तरह संयत होकर बोली--"मेरे लिए तुम्हें माँगने की जरुरत नहीं, मुल्ली ! तुम्हारे पास हों तो ठीक, नहीं तो अपने लिए मैं ही माँगती फिर लूंगी।"

"तुम्हारी कसम, दीदी !" दौलत की बहू ने अपनी बात को कसम से सच और वजनदार बनाने के लिए कहा--"मेरे पास इस समय कानी कौड़ी नहीं।"

निहालू की माँ लुटी--पिटी--सी लौट आयी। एक तो माँगने गयी, उस पर मिला कुछ नहीं। आत्म--ग्लानि से वह घर के रास्ते पर रो पड़ी। कहीं कोई देख न रहा हो, उसने चुपचाप आँसू पोंछकर इधर--उधर देखा, कोई नहीं था। टूटे स्वाभिमान का घुटन भरा दर्द फिर फूट चला।

उसे वे दिन याद आये जब उसका आदमी जिन्दा था। वह जंगलात में ठेकेदारों का मुन्शी था। बरसात के ही दो महीने गाँव में रहता और फिर सारे साल परदेश से मनिआर्डर पर मनिआर्डर भेजता रहता था। तब इसी दौलत की बहू ने उससे कई बार रुपये कर्ज लिए थे। जब आयी, बिना किसी पूछताछ के उसने अपनी संदूकची से रुपये निकालकर उसे दिये। तब सचमुच ही उसके घर में कानी कौड़ी भी नहीं थी। आज बड़ी आदमन बन गयी ! समझती है, उसके सब दिन

ऐसे ही थे और अब भी हमेशा ऐसे ही रहेंगे ! मैंने तो कब सोचा था कि ऐसी अभागी--मनहूस जिन्दगी भी झेलनी पड़ेगी ! सब दिन एक समान किसके रहते हैं ? मेरे दयालू और निहालू आज छोटे हैं, कभी तो बड़े होंगे । तब वे अपने बाप की तरह कमायगे और मेरा घर फिर भर जायेगा । मैंने भी इसी गाँव में रहना है । दौलत की बहू भी इसी गाँव में रहेगी । सारा गाँव भी इसी गाँव में रहेगा । आज जो मुझे भिखमंगिन समझते हैं, वे ही इज्जत देंगे । ये लोग क्यों भूल रहे हैं कि मेरे पास मेरे दो लाल हैं । जिस दिन इन्हें भुनाऊँगी, मालामाल हो जाऊँगी । कहती थी—दो रुपये कहाँ से लौटाओगी ? थू: तेरे दो रुपयों पर । तूने नहीं दिये तो क्या हुआ ? मेरे पास अभी सोने की अंगूठी बाकी है । तू देखती रहना, उसे बेचकर अपने बच्चों को रोटियाँ नहीं पूरी–परसाद खिलाऊंगी ।

घर आकर वह सीधे भंडार घर में गयी । संदूकची से उसने अंगूठी की मखमली डिबिया निकाली । डिबिया खोलकर लाल नगवाली अंगूठी देखी और देखती ही रह गयी ।

उसे वर्षों पहले की वह बरसात की रात याद आ गयी । उसका पति उस दिन शाम को परदेश से लौटा था । बहुत बड़ी गठरी थी जिसे वह बारह मील के पहाड़ी रास्ते पर सिर पर लाद कर लाया था । शाम को खेत के काम से थकी--मांदी जब वह घर लौटी थी तो अपने पति को चौक की मुंडेर पर बैठे हुक्का पीते देखकर जाने कहाँ चली गयी थी उसकी सारी थकान ! जान सी दौड़ गयी थी उसके सारे शरीर में । उन्होंने कनखियों से उसे देखा था और एक छिपी मुस्कान उनके चेहरे पर भी खिल उठी थी । आनन्दी और दयालू उनसे सटकर बैठे थे और निहालू उनकी गोद में था । वे उनसे प्यार–भरी बातें कर रहे थे, जिनमें अपनों से मिलने की खुशी छलक रही थी ।

उसने झटपट उनके लिए चाय बनायी थी और वे रसोई घर में पाटे पर बैठ कर चाय पीते हुए उससे बोले थे----"गठरी से मिठाई निकाल

कर बच्चों को दे दो।"

गठरी खोल कर उसने सरसरी निगाह से सारा सामान देख लिया था----रंग--विरंगे कपड़े, छापदार जनानी धोती, चूड़ी--चुटी, चने--इलायची दाने यानी बहुत सारा सामान !

रात को जब बच्चे सो गये, वे दबे पाँव उसके कमरे में आये। अंधरे में उसकी बाँह पहचान कर उसे अपने कमरे में आने के लिए धीरे से खींचा। इशारा देकर वे चले गये, पर वह यह सोच कर पड़ी रहीं कि कहीं बच्चे जगे न हों। वे फिर आये थे। थोड़ी देर का भी धीरज नहीं रख सके थे। पता नहीं, परदेश में कैसे रह पाते थे। उन्होंने उसकी ठोढ़ी पकड़कर हिलायी और वह सुख का अनुभव करती हुई पड़ी ही रही। जब उहोंने अधीर होकर उसे खींचना शुरू किया तो वह उनके पीछे हुई।

उनके कमरे में लालटेन जल रही थी। पंलग पर नयी चादर बिछी थी। वह शरमाती खड़ी रही। महीनों बाद के उस मिलन के कारण वह स्वयं को नई-नवेली-सी अनुभव कर रही थी। वह भूल गई थी कि वह तीन बच्चों की माँ है और अब काहे की शरम।

उसके पति ने उसे खींच कर पलंग पर बैठाया। वह हवा में बुरुँश की फूल की तरह झूम उठी।

वे बोले—"तुमने यह तो पूछा ही नहीं कि मैं तुम्हारे लिए क्या लाया !"

"बिना पूछे क्या चीज नहीं मिलेगी ?"

"मिलने का सवाल नहीं, क्या चीज लाये—यह पूछने का सवाल है।"

"जब मिल जायेगी, अपने आप ही पता चल जायेगा कि क्या चीज है।"

वे हँस कर बोले—"बड़ी चालाक हो ! चीज पाकर अपनी खुशी ले लोगी, लेकिन पूछ कर मेरी खुशी मुझे नहीं दोगी—यही बात है न ?"

"तो बताओ, मेरे लिए क्या लाये ?" यह कह कर उसने पहली बार उनकी आँखों से आंखें मिलायी थीं। वे देखते ही रह गये थे। मेरी शरम भी जाने कहाँ डूब गई थी। जब सुध आयी तो वे बोले—"अपनी अँगुली बढ़ाओ।" यह कह कर उन्होंने मेरी कलाई पकड़ी। मेरे दायें हाथ की अंगुलियाँ उनकी गोद में फैली थीं। उन्होंने तकिये के नीचे से अँगूठी निकाल कर बीच अंगुली में पहना दी। घड़ी भर वे खोये-से अँगूठी वाला हाथ देखते रहे और फिर उसे उठा कर उन्होंने अपने होठो से लगाया तो उसने शरमा कर हाथ खींच लिया था।

वे हंस पड़े। फिर मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर बोले—"तुम्हारे गोरे हाथ ने इस अंगूठी को कितना खूबसूरत बना दिया है। लगता है जैसे दोनों एक-दूसरे के लिये ही बने हैं। जब परदेश में रहूँ, इसे देख कर मुझे याद कर लेना।"

और उस बरसात के बाद वे ऐसे परदेश गये कि फिर कभी नहीं लौटे। तब से कितनी बरसातें आयीं, वे न आये। वह अपनी अकेली-सूनी घड़ियों में उस अंगूठी को सन्दूकची से निकाल कर बराबर देखती आयी है। उसके सामने आंसू बहाती है और फिर सहेजकर संदूकची में रख देती है।

अँगूठी को देखते हुए उसे अपने पति का कथन याद आया—"जब परदेश में रहूं, इसे देख कर मुझे याद कर लेना।"

उसने आँसू पोंछकर अंगूठी को सन्दूकची में बन्द किया और ठ.प.ी से चून झाड़ कर रसोई घर में चली गयी।

खाने के समय चून की काली-काली रोटियां देख कर निहालू फिर पूछ बैठा—"माँ, गेहूँ की रोटी क्यों नहीं बनाती ?"

—o—

९ स्वप्न-भंग

ताक पर जलती मिट्टी--तेल की कुप्पी का धुमैला प्रकाश रसोई घर में फैला था। आटा गूंदती पत्नी की चूड़ियों की खनक और कड़ाही पर पीतल की तश्तरी से ढके पकते साग की खत्--खत् की आवाज के अलावा हम दोनों के बीच बिल्कुल खामोशी थी। अचानक, न मालूम किस सन्दर्भ को लेकर पत्नी बोली—'जसोदा आयी है अपने ससुराल से।''

अनजान--सा बनकर मैंने पूछा--"कौन जसोदा?" वह भाँप गयी कि मैं बन रहा हूं, मुझे उघाड़ती बोली---"वही! तुम्हारी बचपन की चहेती!"

अपनी आन्तरिक प्रसन्नता पर तटस्थता ओढ़े मैं चुप रहा। पर वह इससे शायद ही आश्वस्त हुई हो, क्योंकि ऐसे मामलों में औरतें आश्वस्त नहीं होना चाहती। मर्दों से वे हमेशा शंकित जो रहती है। मैं उस दिन पछताया कि मैंने उसे जसोदा के साथ अपने बचपन के स्नेह पूर्ण सम्बन्धों की बात क्यों बतायी? तब मुझे क्या मालूम था कि वह हमारे बाल्य--सम्बन्धों को लेकर भी सन्देह पाल सकती है। हो सकता है, जसोदा के लिए मेरी अब तक चली आती मधुर स्मृतियों से आशंकित होकर उसने मुझे सावधान किया हो कि अब मुझे आगे नहीं बढ़ना चाहिए। पर, तब कहाँ समझ पाया था उसके संकेत को!

'जसोदा आयी है'—इस समाचार को सुनकर मेरा मन करने लगा किसी बहाने बाहर जाऊं और उसे मिल आऊं, पर पत्नी की घ्राण--शक्ति की प्रखरता का स्मरण कर मन मारे बैठा रहा। लेकिन मन मरता कहाँ हैं। उसे एक तरफ से छेको तो दूसरी ओर से निकल भागता है। अनन्त द्वार है उसके। कहाँ तक ताला डालें! वह मुझे वहीं बंधा छोड़ कर सुदूर अतीत की पगडंडियों से होता हुआ उस बरगद के पेड़ के नीचे पहुंच

गया, जहाँ बचपन में जसोदा और मैंने मिल कर एक छोटा--सा दुमंजिला मकान चिना था। आज उस मकान की स्मृति मुर्गी के दड़बे का--सा रूप खड़ा करती है। पर तब वह हमारी बचपन की कल्पना शील आँखों के सामने एक आलीशान राजमहल से किसी तरह कम नहीं था।

जब राज महल बनकर तैयार हुआ, जसोदा बोली—"ऊपर का कमरा मेरा है और नीचे का तुम्हारा।"

"वाह! बड़ी होशियार! बनाऊँ मैं और छाँटो तुम।" और उसकी पत्थर-ढुलाई को नगण्य करते हुए मैंने अधिकार--पूर्ण स्वर में कहा—"ऊपर का मेरा है। नीचे का रसोईघर औरत का होता है।"

"तो तुम खाना खाने नीचे नहीं आओगे?"

"आऊँगा।"

"तो मैं भी सोने के लिए ऊपर आऊँगी।"

मैंने अनुभव किया कि सचमुच गाँव के सभी घरों में ऐसा ही तो चलता है। और मैंने समझौता कर लिया—"ठीक है। खाने के लिए मैं नीचे आऊँगा, सोने के लिए तू ऊपर आयेगी। मतलब कि दोनों कमरे दोनों के हैं।"

उस दिन घर पहुंचने पर दोनों की खूब मरम्मत हुई। बात यह थी कि जिस समय हम अपने राजमहल के सपनों में खोये थे, हमारे गाय–गोरुओं ने, जिन्हें चरा लाने का भारी बोझ हमारे स्वप्नशील नन्हें दिलों पर डाल दिया गया था, पधान बाडा के खेत में घुसकर गेहूँ की उनकी खड़ी फसल चौपट कर दी थी।

"सो गये क्या?"

अपने खोये रहने पर पत्नी का व्यंग्य–स्वर सुनकर मैं चौंक पड़ा। देखा, सामने थाली परसी रखी थी।

खाना खाकर ऊपर सोने के कमरे में चला गया। चारपाई पर लेटा तो मन फिर अपनी राह हो लिया।…………मिडिल पास करने

पर मुझे आगे पढ़ने के लिए शहर भेज दिया गया। दशहरे की छुट्टियों में जब गाँव आया तो जसोदा के लिए लेमनजूस की गोलियाँ लाया था। गोली को मुँह के अन्दर जीभ से कभी इस गाल में तो कभी उस गाल में ले जाकर जब उसने 'सी ऽऽऽ' करके उसका रस खींचा तो गोली की मिठास उसके आंखों में मेरे लिए प्रशंसा--भाव बनकर छलक उठी। मैं प्रसन्नता से खिल उठा था।

वर्ष पर वर्ष गुजरते गये। जसोदा बालिका से किशोरी हो गयी है मैं तब भी उसके लिए पहले की तरह लेमनजूस ही ले गया। जब उसे देने लगा तो उसके चेहरे पर संकोच का एक अदृष्टपूर्व झीना गुलाबी आवरण तना पाया। मैं उस परिवर्तन पर विस्मित था। मेरा आग्रह देखकर उसने गोलियाँ रख तो ली, पर खायी नहीं। और मैं 'सी' करके रस खींचने की उसकी मोहक चेष्टा तथा आँखों से बरसते प्रशंसा–भाव के लिए तरस कर रह गया।

मेरी खिन्नता का अनुभव कर उसने कहा—"शहर में गुलाबी फीते भी तो मिलते हैं।"

"गुलाबी ही क्या, लाल, हरे, पीले, कई रंगों के मिलते हैं।" उसके कथन का अभिप्राय न समझकर मैंने जानकारी दी।

उसने कहा—"सोहन चाचा की लड़की कमला के बालों पर गुलाबी फीता देखा है ? कितना सुन्दर लगता है! जैसे बादलों पर बिजली चमक कर ज्यों की त्यों थम गयी हो।" यह कहकर उसने अपनी चोटी हाथों में लेकर उसे ऐसी दृष्टि से देखा जैसे उसमें बिजली का फीता लगा देख रही हो।

"तुझे गुलाबी फीता अच्छा लगता है ?" मैं बच्चों की तरह पूछ बैठा।

और उसने एक लजीली किशोरी की तरह कहा—"ना!" उसकी वह 'ना' उसके बंकिम कटाक्ष, मोहक मुस्कान और मुख--मुद्रा की एक

विशेष भाव–भंगिमा में 'हाँ' थी, पर इस अनाड़ी में तब उन कोणों से छिटकती रोशनी को देख पाने की दृष्टि कहाँ थी।

रसोईघर का सारा काम निबटाकर पत्नी दूध लेकर आयी—"लो, दूध पीलो।"

मैं दूध पीने लगा और वह बगल में लेट गयी। दूध पीकर मैंने लालटेन बुझाई और मैं भी लेट गया। पर, नींद नहीं आयी। पत्नी को भी तीन--चार वार खटमलों ने काटा। दो--तीन बार मच्छरों को मारने के प्रयत्न में अपनी चपत खायी। किन्तु मेरे हिस्से के खटमल--मच्छर तो मेरे ही ध्यान में खोये रहे। पत्नी हार–झकमार कर सो गयी। मैंने अपने मन के साथ जबरदस्ती भी की कि वह उधर उड़ान न मारे जिधर उतरने के लिए भूमि नहीं। पर वह मेरे विचारों को फुसला कर चला ही गया।

तब यही कोई सोलह–सतरह की रही होगी जसोदा, जब पच्चीस-तीस आदमियों की छोटी–सी बारात लेकर दूल्हा की पालकी उसे व्याहने आयी। मैं हाई स्कूल की परीक्षा देकर गाँव आया हुआ था। विवाह के पाँच–सात दिन पहले जसोदा मुझे झरने के पास मिली। शाम का समय था और ढ़लते सूरज की धूप घाटी में छाया भरती हुई झरने तक चढ़ आयी थी। जसोदा ऊपर से पत्थर पर छिटकती धार के छींटों की पहुँच से बाहर बैठी ताँबे की गागर माँज रही थी।

उसे खिजाने के लिए मैंने कहा—"जसोदा! दो--चार दिन ही है यहाँ, बस जी भर कर गागर माँज ले। फिर तो पराये गाँव की ही गागर है और पराये गाँव का ही पानी।" इस पर जसोदा की आँखों में पानी की गागरें भरी देखकर मैंने आश्चर्य से कहा—"अरे, इसमें रोने की क्या बात?"

"हाँ, बड़ी खुशी की बात है।" उसने आँसू पोंछते हुए नाराजी के साथ कहा और धार के पास जाकर गागर धोने लगी। ताँबे की उसकी

साफ मंजी गागर पर क्षण भर धूप झिलमिलाई और ऊपर सरक गयी ।

मैंने उसी अल्हड़ता से कहा—"खुशी ? खुशी क्यों न होगी भला ! विवाह है ही खशी की चीज । ढ़ोल--रौंटी बजेगी । घाटियाँ गूँजेंगी । बारात आयेगी । चहल--पहल रहेगी । चौक में वर–नारायण की पालकी उतरेगी । मंगल--गीत चलेगे । पूजा--घर में बैठी तुम अपने उनकी प्रतीक्षा में धक्--धक् करती रहोगी । सहेलियां दौड़ती हुई आकर तुम्हें बतायेंगी कि जीजा जी बहुत खूबसरत हैं और तुम्हारे मन में········।"

"अच्छा-अच्छा, अब चुप करो ।" जसोदा ने मेरी कल्पना की धारा को चट्टान की तरह रोक कर कहा--"सिर पर गागर उठा दो। मेरे मन को खूब समझा है तुमने !"

तब भी मैं उसका वेदना पूर्ग उलाहना कहाँ समझ पाया ! मुस्कराते हुए मैंने उसके सिर पर गागर उठायी थी ।

जसोदा के विवाह में ढ़ोल-रौटी विदाई के स्वर में बज रहे थे और शहनाई में किसी करुण लोक-गीत की धुन रो रही थी। वर-नारायण पालकी में प्रतीक्षातुर थे और डोली वधू की प्रतीक्षा में उवड़ी थी। तभी जल्दी करने की हाँक हुई और दुल्हन का करुण रुदन-स्वर दिलों में हूक भर गया ।

जसोदा की माँ का रोते-रोते बुरा हाल था । बाप अपने रुदन को छिपाने के प्रयत्न में, बिना किसी काम के व्यस्त बना, बाहर-भीतर एक कर रहा था ।

उस दिन पहली बार मुझे जसोदा के अभाव का सूनापन महसूस हुआ ।

जसोदा की डोली उठी तो उसने डोली का लाल परदा हटाकर मुझे देखा । उसकी अश्रुपूर्ण दृष्टि मुझे एक अजीब दर्द–भरी अनुभूति देकर फिर लाल परदे में छिप गयी । उस समय भी मेरे चेहरे पर हल्की मुस्कान थी, पर शायद ही जसोदा ने समझा हो कि मेरी वह

मुस्कान अपने रुदन को छिपाने के लिए मात्र एक आवरण थी।

× × ×

सुबह घाटी में धूप भर गयी थी, जब मैं जसोदा से मिलने के लिए चला। रात में ही सोच लिया था कि सुबह, जब पत्नी चाय-नाश्ता कराके खेती-बाड़ी के काम पर चली जायेगी तभी जसोदा से मिलने जाना ठीक रहेगा। तब तक उसके घर के लोग भी काम पर चले जायेंगे। निश्चिन्तता के साथ एकान्त में मिलने का कुछ और ही आनन्द होता है। वर्षों बाद जब वह अचानक मुझे अकेले में सामने देखेगी तो उसकी खुशी बेरोक-टोक छलक उठेगी। उसकी प्रेम-पूर्ण दृष्टि से स्वयं को नया हुआ-सा देख कर मुझ में एक नयी स्फूर्ति की प्रसन्नता भर जायेगी।......... कुछ इसी तरह की हर्ष-हिलोरों में लहराता मैं उसके घर की तिबारी में पहुँचा तो वहाँ का सूनापन मेरे हृदय में भर गया। आशंकित हुआ कि कहीं वह भी काम पर न चली गयी हो। फिर स्वयं को आश्वस्त किया कि जरूर वह इस समय नीचे रसोई घर में होगी। मायके आने पर बेटी को पहले दिन ही काम पर कौन जोतता है? कम से कम आज तो उसे खाना बनाने का ही काम दिया गया होगा। रसोईघर के द्वार पर पहुँचा तो मेरा अनुमान ठीक निकला। भीतर चूल्हे पर दाल का भड्डू चढ़ा था और जसोदा बुझी आग को फूँक मार कर सुलगा रही थी। रसोईघर धुएं के बादलों से भरता जा रहा था।

मैं लगभग चौंका देने वाले स्वर में चिल्ला पड़ा—"जसोदा!"

मेरे सम्बोधन में ऐसी भाव-विह्वलता थी जैसे कह रहा था कि जसोदा, जरा इधर तो देख, कौन आया है!

जसोदा ने चौंक कर देखा, पर उसके चेहरे पर प्रथम क्षण का भय प्रसन्नता में नहीं बदला। मैं सोच रहा था कि मुझे देखते ही वह भी

विस्मय और हर्ष से भर जायेगी और खड़ी होकर वह भी पुकार उठेगी—"दिनेश !" किन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ। वह सहज स्वर में बोली—"आओ, बैठो।" और उसने बैठने के लिए पटिया सामने सरका दी।

मैं बैठा, पर बैठे रहने की उमंग बुझ-सी गयी थी। रात भर कली जिस सुबह के स्वागत में खिलती रही, उसे उस सुबह का ही पाला मार गया था। किन्तु, मन के किसी कोने में मूर्छित भावों के पुनः संजीवित हो उठने की आशा अब भी बनी हुई थी। मैंने बड़ी आत्मीयता से पूछा—"कैसी हो, जसोदा !"

"अच्छी हूं।" बिल्कुल औपचारिक स्वर—"तुम कैसे हो?"

"अच्छा ही हूं।" 'ही' कहकर मैंने उसमें अपने लिए उत्सुकता जगानी चाही थी। किन्तु, वह मेरे 'ही' को टाल गयी।

"क्या काम करते हो?" उसने विशुद्ध जानकारी लेने के लहजे में पूछा।

"मास्टर हूँ।" मैं बुझता जा रहा था।

"अच्छा !" उसके स्वर में अपने लिए उत्सुकता--सी महसूस कर मैं थोड़ा आशान्वित हुआ। तभी बाहर से जसोदा की पुत्री--माँ ! माँ !' कहती हुई ठुमकती आयी और माँ की गोद में बैठ गयी। जसोदा ने कहा—'इसके पिता जी भी मास्टर हैं।" यह कहकर उसने चूल्हे पर चढ़ी कितली में चाय की पत्तियाँ डाली। पता नहीं, किस समय उसने भड्डू उतार कर केतली चढ़ा दी थी।

अपनी तुलना में जसोदा के पति को खड़ा देखकर मैं भीतर ही भीतर टूट गया था। पर, मैं टूटा नहीं रहना चाह रहा था। मैंने फिर बात चलायी "जसोदा ! वर्षों बाद मिल रहे हैं हम।"

"हाँ।" चाय छानते हुए उसने स्वीकार किया, पर उसकी स्वीकृति भावना-शून्य थी।

"वे दिन कितने अच्छे थे, जसोदा !" मैंने उसका ध्यान अतीत के उन

भावात्मक क्षणों की ओर खींचना चाहा, जब हम परस्पर अभिन्न रूप से बँधे थे। वह चुप रही तो मैंने पूछा—"तुम्हें याद नहीं आते वे दिन ?"

"बीते दिन सभी अच्छे लगते हैं।" यह कहकर उसने चाय का गिलास मेरी ओर बढ़ाया।

मैं पूरी तरह चुक गया था। चाय की प्रत्येक घूँट दवाई की कड़ुवी घूँट लग रही थी।

चाय पीकर मैंने मुन्नी के हाथ में दो रुपये रखे और उठता हुआ बोला—"अच्छा, चलता हूँ।"

मैं चलने को हुआ तो जसोदा मुन्नी से बोली—"मामा जी को नमस्ते कर, बेटी।"

मैंने सुना, मुन्नी कह रही थी—"नमत्ते, मामा जी !"



लेखक की प्रकाशित रचनाएँ

(१) पंचतंत्र, भाग १ [हिन्दी पद्यानुवाद] मूल्य २-००

(२) पहाड़ों के साये में [आंचलिक कहानी-संग्रह] ५-००

प्रकाशनाधीन रचनाएँ

(१) प्रवासी पार्थ [प्रबन्ध काव्य]

(२) इन्द्रधनुष [कविता-संग्रह]

(३) पुनर्नवा [कहानी-संग्रह]

(४) कुलवन्ती [उपन्यास]

(५) काव्यांग-परिचय

(६) आधुनिक हिन्दी काव्य में रीति-तत्व [शोध-प्रबन्ध]